बीस कवियों की समालोचना

दीपनारायण द्विवेदी
बी० ए०

प्रकाशक
.जी बुकडिपो
लखनऊ

व्यवस्थापक
भैरवराम नागर
शिवाजी बुकडिपो
अमीनाबाद, लखनऊ.

प्रथम संस्करण, दिसम्बर. १९४३

प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक स्वर्णिम युग में काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी और समालोचना आदि साहित्य के विविधि अंगों की प्रतिपल आशातीत अभिवृद्धि हो रही है। यह हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी की विकासोन्मुखी व्यापकता का परिचायक है। केवल जीवित राष्ट्रों की भाषायें ही क्षण-प्रतिक्षण नवीन स्फूर्ति के साथ अपने पृथक् पृथक् अवयवो में संचलन-शक्ति प्रदर्शित कर सकती है। हिन्दी-साहित्य की उन्नति इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसका विकास हमारी सजीवता और राष्ट्रीयता का द्योतक है। पर खेद है कि जहाँ एक ओर काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानी के क्षेत्र मे आशातीत वृद्धि हो रही है—और कुछेक अंशों मे अस्वास्थ्यकर, स्रोत उमड रहे है—वहाँ दूसरी ओर समालोचना का आवश्यक क्षेत्र शुष्क और उपेक्षित-सा पडा है।

समालोचक का कार्य कठिन और महान् उत्तरदायित्व से पूर्ण होता है। जिस प्रकार प्रभात काल का अरुण बालार्क अपनी सुनहली किरणो से सुप्त शतदल की आभा का उन्मीलन करता है उसी प्रकार समालोचक अपनी निष्पक्ष और न्याय-संगत अन्तर्व्यापिनी दृष्टि से कवि-विशेष की काव्य-प्रतिभा को जनता के सामने उपस्थित करता है। हो सकता है कि अपने इस दुस्तर कार्य मे समालोचक पूर्णरूपेण सफल न हो सके, परन्तु फिर भी उसका प्रयत्न तब तक स्तुत्य ही माना जायगा, जब तक वह हमारे सामने एक सच्चे पारखी के रूप मे आता है।

द्विवेदी जी का उद्देश्य इसीलिये स्तुत्य तथा सराहनीय है। उनकी प्रस्तुत पुस्तक बीस कवियो की समालोचना हिन्दी संसार के सम्मुख

उपस्थित करते हुए मैं इस बात को सहर्ष स्वीकार करता हूँ कि द्विवेदी जी ने शब्दाडम्बर के गहन गर्त्त से निकलकर हिन्दी-संसार के समक्ष सरल, सुगम और मार्मिक समालोचना का सुन्दर रूप उपस्थित किया है। उनकी शैली निष्पक्ष तथा न्याय-संगत है। प्रत्येक कवि का संक्षिप्त परिचय देकर आपने उसकी भाषा तथा शैली का यथासाध्य सूक्ष्म विवेचन किया है। उनका उद्देश्य है कवि की अन्तरात्मा का निरूपण करना। हो सकता है कि किसी कवि-विशेष की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का निर्देश न हो सका हो--और यह इस छोटी-सी पुस्तिका में सम्भव भी नहीं है—परन्तु यथासम्भव प्रत्येक कवि की प्रमुख प्रवृत्तियों की ओर सप्रमाण संकेत कर दिया गया है। लेखक ने जिस सरस और साहित्यिक शैली को अपनाया है, जिस अन्तर्व्यापिनी दृष्टि से काव्य के अन्तर्जगत और बहिर्जगत पर प्रकाश डाला है, वह प्रशंसनीय है। हिन्दी-साहित्य में समालोचना की यह मार्मिक शैली यदि व्यापक हो सकी तो इससे हमारे समालोचना-साहित्य का बहुत-कुछ कल्याण हो सकेगा। आशा है साहित्य सेवी—विशेषरूप से स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थी, इस पुस्तक से लाभ उठाकर लेखक को अनुगृहीत करेंगे।

लखनऊ
८—१०—४२

सी० एल० मालवीय, एम० ए०
कान्यकुब्ज इंटरमीडियेट कालेज, लखनऊ.

साहित्यिक-समालोचना की शैली

साहित्यिक-समालोचना साधारण या लौकिक समालोचना से भिन्न होती है। लौकिक या साधारण समालोचना क्षणिक तथा मूल्यहीन होती है और इसका कोई विशेष उत्तरदायित्व नहीं होता। साधारण रीति से हम अपने जीवन से सम्बन्धित अखिल वस्तुओं की समालोचना किया करते है, परन्तु वह हमीं तक अथवा हमारी मित्र-मण्डली तक ही सीमित रह जाती है। परन्तु जब साहित्य का कोई विद्यार्थी किसी कवि अथवा लेखक की समालोचना करने बैठता है तो उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि उसके मुख से कोई ऐसी बात न निकले जिससे उसके ज्ञान अथवा अध्ययन का ओछापन प्रकट हो। अस्तु, साहित्यिक समालोचना में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो कोई बात कही जाय वह पर्याप्त प्रमाण के आधार पर कही जाय। साहित्यिक समालोचना—प्रशंसात्मक और कटाक्षात्मक—दो प्रकार की हो सकती है। दोनों ही शैलियाँ समालोचना से कोसों दूर है। हमे किसी कवि या लेखक की केवल प्रशसा ही प्रशंसा की भरमार नहीं कर देनी चाहिए और न किसी की समस्त रचनाओ मे प्रभूत दोषमयता का दोषा-रोपण ही करना चाहिए। संसार की सभी वस्तुओं में गुण और दोष होते है; कवि या लेखक की रचना मे भी गुण और दोष का होना अनिवार्य है। अस्तु, वास्तविक समालोचना वही है जिसमें न्याय के साथ, निष्पक्ष भाव से, गुणों और दोषों की विवेचना की जाय।

हिन्दी साहित्य में समालोचना की कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं, परन्तु इस स्थान पर उनके विषय में और कुछ न बतलाकर केवल इतना कहना पर्याप्त है कि विद्यार्थियों को, विशेषकर स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों को, निम्न-लिखित शैली का अनुकरण करना लाभप्रद तथा सुविधाजनक सिद्ध होगा—

(क) भाषा तथा शैली:—

१. प्रस्तुत कवि की भाषा में ब्रज, अवधी अथवा खड़ी बोली का प्राधान्य है, या कोई दो या तीनों का संमिश्रण है; या प्रस्तुत कवि ने पृथक्-पृथक् तीनों में रचनाएँ किया है। इसकी पुष्टि में कवि की भाषा का उदाहरण दे देना चाहिए।

२. कवि की भाषा में राजस्थानी, बुन्देलखण्डी अथवा पूर्वी हिन्दी के शब्द आये हैं। यदि ऐसे शब्दों का बाहुल्य है तो दो-चार शब्दों का उल्लेख कर देना चाहिए।

३. प्रान्तीय शब्दों तथा उर्दू, फारसी आदि अन्य भाषाओं के शब्दों को कवि ने किस मात्रा में अपनाया है। प्रत्येक का उदाहरण दे देना चाहिए।

४. यदि कवि की भाषा खड़ी बोली है, तो संस्कृत के तत्सम पदावली का किस मात्रा में उपयोग हुआ है। कवि ने साधारण या उत्कृष्ट खड़ी बोली का प्रयोग किया है।

५. मुहावरों और लोकोक्तियों का किस मात्रा में उपयोग किया गया है; भाषा मुहावरेदार और जीवित है अथवा गद्यमय और नीरस।

६. प्रसाद, माधुर्य और ओज—इन तीनों में कौन-सा गुण कवि की भाषा में प्रधान होता है।

७. ललित, सुन्दर तथा रसपूर्ण पदावली पायी जाती है या नीरस, संयुक्ताक्षर-परिपूर्ण, लम्बी सामासिक पदावली की भरमार है।

८. किन-किन अलंकारों की बाहुल्यता है ।

६. उक्तिवैचित्र्य और चमत्कार पाया जाता है अथवा भाव-गाम्भीर्य तथा अर्थ-विशिष्टता पायी जाती है ।

१०. किस प्रकार के छन्दों को कवि ने प्रयुक्त किया है ।

११. कवि की भाषा सरल है अथवा उत्कृष्ट ; साहित्यिक तथा परिमार्जित है अथवा अनगढ़ और गँवारू , ललित तथा सरस है अथवा रूखी और कर्ण-कटु , माधुर्य-परिपूर्ण है अथवा प्रवाह-हीन ; सजीव है अथवा निर्जीव ।

१२ कवि की शैली गीत्यात्मक है अथवा वर्णनात्मक और विवेचनात्मक ।

१३. कवि की कल्पनाएँ, उत्प्रेक्षाएँ और उपमाएँ चमत्कार-पूर्ण है अथवा साधारण ।

१४. कवि की रचना हृदयस्पर्शिनी है या विचारोत्पादक है या शिक्षात्मक है, या इतिवृत्यात्मक ।

१५. अन्य विशेषताएँ ।

(ख) कवि के काव्य की अन्तरात्मा:—

१. प्रस्तुत कवि की रचना में किन-किन भावों का प्राधान्य है—भक्ति-भावना, राष्ट्रीयता, प्रेम-भावना, लोक-हित की भावना इत्यादि ।

२ यदि कवि मे भक्ति की भावना है तो कवि किस पंथ का है, निर्गुणोपासक, सगुणोपासक, ज्ञानमार्गी, प्रेम-मार्गी, राम-भक्त, कृष्णभक्त, अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी ; अथवा उसकी भक्ति किस प्रकार की है, या उसके भक्ति की गम्भीरता कितनी है ।

३ कवि में लोक-हित की भावना किस मात्रा में है , उसने अपनी कृति से समाज-सुधार का कैसा प्रयत्न किया है ।

४. कवि में राष्ट्रीयता की भावना तथा जातीयता का विचार किस परिमाण में पाया जाता है।

५. यदि कवि रीति-पथानुयायी है तो उसमें तत्कालीन सामाजिक वृत्तियाँ किस मात्रा में हैं। उसने सामाजिक कल्याण के भावना की कहाँ तक रक्षा की है।

६. यदि कवि में प्रेम रस का प्राधान्य है तो यह देखना चाहिए कि उसका प्रेम लौकिक है अथवा पारलौकिक. और यदि उसका प्रेम लौकिक है तो वह साधारण है या कुरुचिपूर्ण तथा वासनामय।

७. कवि ने अपने सामने क्या आदर्श रखा है। किस प्रकार के आचरण को वह सर्वोत्तम समझता है?

८. राजनीति, अर्थशास्त्र, धन-धान्य इत्यादि मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विषयों के सम्बन्ध में उसके क्या विचार हैं?

९. कवि का संदेश क्या है?

विद्यार्थियों को चाहिए कि किसी कवि की समालोचना करते समय उपर्युक्त बातों का ध्यान रखें। उन्हें प्रत्येक कवि की रचना से दो-चार सुन्दर पद कंठाग्र कर लेना चाहिए जिससे कि वे अपनी युक्तियों की पुष्टि में उन्हें उद्धृत कर सकें। विद्यार्थियों को उद्धरण देने से कभी घबड़ाना नहीं चाहिए। समालोचना लिखते समय यथावसर अधिक से अधिक उद्धरण देना चाहिए।

महात्मा कबीरदास

परिचय—'कबीर पन्थ' के प्रवर्तक संतभूषण महात्मा कबीरदास का जन्मस्थान, उद्भवकाल तथा निर्वाण-समय, सभी कुछ विवादग्रस्त है। कबीरदास ने, हिन्दी के कुछ प्राचीन अन्य कवियों की भाँति, अपनी कृतियों में विनम्रता के वशीभूत होकर आत्म-परिचय का आभास बहुत कम दिया है। हो सकता है कि उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुसार आत्मचर्चा साहित्य-संसार में प्रगल्भता का द्योतक रही हो, क्योंकि तुलसी और सूर की रचनाओं में भी आत्म-चर्चा अत्यन्त अल्प मात्रा में पायी जाती है। इनकी रचनाओं में केवल इनके व्यक्तित्व तथा धार्मिक विचारों की झलक मिलती है। अत: इनके जन्मादि के विषय मे हमे किम्वदन्तियों तथा कुछ ग्रन्थकारों के कपोलकल्पित कथनों का ही सहारा लेना पड़ता है। 'कबीर कसौटी' में इनका जन्मकाल संवत् १४५५, 'भक्त सुधासिन्धु' में संवत् १४५१ और 'कबीर एण्ड दी कबीर पन्थ' में संवत् १४५७ दिया गया है। लेकिन आधुनिक साहित्य-इतिहास-कारों का कथन है कि कबीरदास का जन्म ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा, सोमवार, विक्रम संवत् १४५६ है। इनके जन्म के विषय में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित है। कहा जाता है कि भूल से स्वामी रामानन्द ने एक विधवा ब्राह्मणी को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था, जिसके कुक्षि से इस अभागे बालक का जन्म हुआ। उस बेचारी विधवा ने लोक-लज्जा के भय से हृदय पर पत्थर रखकर अपने निर्दोष बालक को काशी के 'लहरतारा' नामक तालाब के पास डाल दिया। संयोगवश नीरू नामक एक जुलाहा

अपनी स्त्री नीमा के साथ उसी मार्ग से जा रहा था। निस्सन्तान दम्पति ने उस नीरव सरोवर में अबोध बालक का करुण-क्रन्दन सुना और द्रवीभूत हृदय से उसे छाती से लगा लिया। नियति की गति विचित्र होती है। कौन जानता था कि यही अबोध बालक भविष्य में अपने ज्ञानामृत से संसार के तप्त हृदय को शीतल तथा नीमा और नीरू के नाम को अजर और अमर करेगा?

यद्यपि कबीरदास का पालन-पोषण यवन-कुल में हुआ, परन्तु बाल्यावस्था ही से उनकी प्रवृत्ति हिन्दू-धर्म की ओर थी। वे हिन्दू संत-महात्माओं के उपदेश सुना करते थे, तिलक लगाते थे और राम-नाम जपा करते थे। इनके पोषकों ने उनकी इस प्रवृत्ति को दबाने का प्रयत्न किया और यथावसर नियत कार्य की अवहेलना पर उन्हें दण्ड भी दिया। रामानुज-शिष्य-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ वैष्णव सन्त महात्मा रामानन्द का माहात्म्य उस समय बहुत बढ़ा हुआ था। कबीर अभी तक निगुरे थे इसलिये रामानन्द का शिष्यत्व प्राप्त करने की उन्हें महती अभिलाषा थी, परन्तु रामानन्द ने कबीर को अपना शिष्य बनाने से अस्वीकार कर दिया। एक दिन पहर रात शेष रहने पर कबीर उस सीढ़ी पर जा लेटे जिस पर से महात्मा रामानन्द नित्यशः गङ्गा-स्नान को जाया करते थे। महात्मा की चरणपादुका कबीर के ऊपर पड़ गई और वे करुणा से द्रवीभूत होकर 'राम राम' कह उठे। यही कबीर के लिये गुरु-मंत्र हो गया और वे अपने को रामानन्द का शिष्य मानने लगे। कबीरदास ने एक स्थान पर इस बात का उल्लेख किया है—

कबीरदास का विवाह बनखण्डी वैरागी की कन्या लोई से हुआ था। इनके एक पुत्र कमाल और एक पुत्री कमाली थी। कबीरदास को अपने पुत्र की संसार-प्रियता पर शोक था और

"बूडा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छोड़ि कै घर लै आया माल॥"

कह कर कबीरदास ने अपने पुत्र पर ओछे चारित्र्य का दोषारोपण किया है।

कबीरदास ने बहुत दूर-दूर तक देशाटन किया। वे अधिकतर साधुओं और सूफी फ़क़ीरों के संग में रहते थे। उन्होंने हिन्दू महात्माओं से बहुत सी ज्ञान की बातें ग्रहण की। सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेम की पीर' का अनुभव किया। कबीरदास पढ़े लिखे नहीं थे। जुलाहे का काम करके वे अपनी जीविका चलाते थे और लोगों को उपदेश दिया करते थे। कई स्थलों पर उन्होंने कहा है—

"तू बाह्मन मै कासी का जुलहा बूझौ मोर गियाना।"

"मसि कागज छूओ नही, कलम गहो नहिं हाथ,
चारिउ जुग का महातम कबिरा मुखहिं जनाई बात॥"

कबीरदास ने स्वयं किसी ग्रन्थ की रचना नहीं किया था। वे अनपढ़ थे। उन्होंने इधर-उधर भ्रमण करके लोगों को उपदेश दिया। इनके उपदेशों को इनके शिष्य धर्मदास ने एकत्रित किया और इस संग्रह का नाम 'बीजक' रखा। 'बीजक' के तीन भाग है—साखी, सबद और रमैनी।

कबीरदास की मृत्यु संवत् १५७५ में मगहर में हुई। लोगों का विश्वास है कि जो काशी मे पंचत्व को प्राप्त होता है उसे मोक्ष मिलता है। अपने को निष्पाप होने में कबीरदास को पूरा-पूरा विश्वास था, इसलिये—'जो कबिरा कासी मरै तो रामहिं कौन निहोर' कह कर कबीरदास—

"सकल जनम शिवपुरी गँवाया।
मरति बार मगहर उठि धाया॥"

इनके शव को हिन्दुओं ने जलाना तथा मुसलमानों ने दफ़नाना चाहा, क्योंकि इनके अनुयायियों में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों थे। जिस समय यह झगड़ा हो रहा था, कबीर का शव लुप्त हो गया और उसके स्थान पर कुछ पुष्प बच रहे, जिसको हिन्दू-मुसलमान दोनों ने आपस में बाँट लिया। मगहर में कबीर के मृत्यु-स्थान पर एक समाधि तथा एक मक़बरा साथ-साथ निर्माण किया गया जो अब तक स्थित है।

भाषा तथा शैली—साहित्यिक दृष्टिकोण से कबीर की आलोचना करना कबीर के साथ अन्याय करना है। कबीरदास की भाषा न तो तुलसीदास की भाँति साहित्यिक तथा परिमार्जित है और न सूरदास की भाति ओजस्विनी तथा माधुर्यपूर्ण है। उनकी भाषा में अवधी, व्रज भाषा, खड़ी बोली और पूर्वी हिन्दी का मिश्रण है। इन्हें छन्द-शास्त्र से कोई प्रयोजन नहीं था। भाव-व्यञ्जना के लिये अलङ्कारों का आश्रय लेना, भाषा को माधुर्य, ओज तथा प्रसाद का आवरण पहनाना और रूपक-उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग करना कबीर को प्रिय नहीं था। कबीर उपदेशक तथा समाज-सुधारक थे। उनको अपने उपदेशों का जनता में प्रचार करना था। उन्हें वे भजनों में गा-गाकर जनता को सुनाते थे। गीत्यात्मक भाषा लोगों के हृदय तक पहुँचने में जितनी सफल होती है उतनी नीरस गद्य-मय भाषा नहीं हो सकती। गीत का सम्बन्ध हृदय के सूक्ष्म तन्तुओं से है। अत. हिन्दी-साहित्य के अधिकतर उपदेशक-कवियों ने गीत्यात्मक भाषा ही का उपयोग किया है। कबीरदास ने भी अपने हृदय के उद्गारों को सीधे-सादे भजनों में लोगों के सम्मुख रखा है। अपने भजनों के लिये उन्होंने

सरलतम छन्दों का निर्वाचन किया है। परन्तु छन्द-शास्त्र तथा अलङ्कार-विज्ञान की जानकारी न होने से इनके पदों में तुकान्तादि वेष-भूषा के रहने पर भी छन्द-दोष, मात्रा की न्यूनता और पुनरुक्ति आदि त्रुटियाँ पायी जाती है। कहीं-कहीं ऊटपटाँग देहाती छन्दों का भी उपयोग इन्होंने किया है। इसलिये हम निस्संकोच भाव से कह सकते है कि कबीरदास का प्रधान ध्येय धार्मिक तथा सामाजिक सुधार था, न कि साहित्य-संसार मे अमरत्व की प्राप्ति। किसी विशेष साहित्यिक प्रेरणा के वशीभूत होकर कबीर ने अपनी लेखनी नही उठायी थी। उपदेशक होने के नाते इनकी भाषा सरल, सुबोध तथा भावगम्य है। इनकी अधिकतर उक्तियाँ ठेठ देहाती भाषा में है। यथा—

मोंको कहाँ ढूढै बन्दे मै तो तेरे पास मे।
ना मैं छगरी ना मै बकरी ना मै छुरी गडाँस मे॥
नहीं खाल मे, नही पूँछ मे, ना हड्डी, ना माँस मे।
ना मै देवालय, ना मै मसज़िद, ना काबे कैलास में॥
ना तो कौनो क्रिया कर्म मै नही जोग वैराग मे।
खोजो होय तो तुतो मिलिहौं पलभर की तालास मे॥
मै तो रहौं सहर के बाहर मेरी पुरी मवास मे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो सब सासो की साँस मे॥

उपर्युक्त पद में कवि ने अनगढ़ और अपरिमार्जित भाषा का उपयोग किया है, और वह इसलिये कि उन्हे अपनें उपदेशात्मक भावों की अभिव्यञ्जना साधारण जनता के सम्मुख करनी थी। कबीर की भाषा में पूर्वी हिन्दी की प्रधानता है क्योंकि कबीर उसी भाग के निवासी थे, जहाँ इस भाषा का अधिकतम प्रचार है। कही-कही अरबी-फारसी के शब्दों की प्रचुरता भी इनकी भाषा में दृष्टिगत होती है। 'एक तो हिन्दी-उर्दू का बखेड़ा कबीर के

समय में इतने प्रचण्ड रूप में नहीं था जितना कि इस समय है। दूसरे, कबीर का संस्कार एक मुसलमान परिवार में हुआ था, और तीसरे प्रसंग-वश, विशेपतया जिस स्थल पर इन्हें मुसलिम सम्प्रदाय की आलोचना करनी है, इन्होंने जान-बूझकर उर्दू के शब्दों को व्यवहृत किया है। भाव-व्यञ्जना के निमित्त भी उर्दू के मुहावरों को अपनाना हिन्दी में अनिवार्य हो जाता है। ज्ञात होता है कि एक सच्चे साहित्यिक कलाकार की भाँति भावों के स्पष्टीकरण के हेतु कबीर को किसी भी भापा का शब्द अग्राह्य नहीं था। इसीलिये इनकी भापा में बतियाँ, गतियाँ, तहियाँ आदि पूर्वी भापा के शब्दों के साथ-साथ एक ओर तो देवालय, अतीत, परब्रह्म, महेश्वर, दृढ़, स्थूल, सूक्ष्म आदि संस्कृत की सरस पदावली पायी जाती है, तो दूसरी ओर काबा, मुश्किल, नज़र, ख़ालिक, मकसूद, इश्क आदि की छटा दृष्टिगोचर होती है। इन शब्दों के प्रयोग से भापा में सुरम्यता और भावों में अभिव्यञ्जना-शक्ति का समावेश हो जाता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि देहाती, उजड्ड, तथा अनगढ़ शब्दावली किसी-किसी स्थल पर भापा को कर्णकटु बना देती है। पर यह कवि का दोप नहीं है। उपदेशक ने अपनी सुविधा के लिये जिस शैली को समुचित समझा उसी का अनुसरण किया। कबीर के भापा की विविधता नीचे के पदों में देखिए—

(क) सब का साखी मेरा साँई।

(ख) काल्हि करन सो आज कर, आजु करन सो अब्ब ।
पल में परलय होयगी, बहुरि करैगा कब्ब ॥

(बैसवारी तथा अवधी भाषा)

(ग) कौन ठगवा नगरिया लूटल हो ।
चन्दन काठ कै बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो ॥
उठो री सखी मोरि माँग सँवारो मोसे दुलहा रूठल हो ।

....

(पूर्वी भाषा)

(घ) लघुता में प्रभुता मिले, प्रभुता में प्रभु दूरि ।
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि ॥

(खड़ी बोली)

(ङ) हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ।
रहें आजाद या जग से हमन दुनिया से यारी क्या ॥

कबीर का मत—इस बात का ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि साहित्यिक प्रेरणा के वशीभूत होकर नहीं, वरन् मतमतान्तर के फेर में पड़ कर कबीर भगवती सरस्वती के शरण में आये। उन्होंने जिस मत का प्रवर्तन किया उसे 'कबीर पंथ' कहते हैं और उसके बहुत से अनुयायी आज भी भारतवर्ष में पाये जाते हैं। 'कबीर-पंथ' में हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित हुए। 'कबीर-पंथ' के अनुयायी बहुधा नीची और अस्पर्शनीय जातियों के लोग हैं। उस समय, जब कि कबीर ने अपना मत-प्रचार प्रारम्भ किया, वैष्णव मत और वैष्णव सम्प्रदाय की धूम थी। रामानुज के प्रवर्तित किये हुए वैष्णव सम्प्रदाय में नीची तथा अछूत जाति के लोगों के लिये स्थान नहीं था। दलितों और शूद्रों के लिये स्वामीजी ने मुक्ति का कपाट बन्द कर रक्खा था। उनके लिये मोक्ष एक अलभ्य वस्तु थी। उसी शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द ने अपने सिद्धान्तों में थोड़ी सी उदारता दिखलायी और उन्होंने कुछ निम्न-जातियों को भी अपने दल में सम्मिलित होने की आज्ञा दे दी। परन्तु फिर भी हिन्दू-जनता का एक बहुत बड़ा भाग भक्ति-द्वारा मोक्ष-प्राप्ति से वंचित रह गया था। साथ ही साथ सनातन हिन्दू-धर्म की वर्ण-व्यवस्था ज्यों की त्यों कठोर ही थी। अस्तु, उस समय किसी ऐसे समाज-सुधारक की आवश्यकता थी जो अपने व्यक्तित्व की प्रतिभा तथा ज्ञान की प्रखरता से इन सहस्रों परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन करके निराश दलित वर्गों के लिये मुक्ति का मार्ग उन्मुक्त कर देता। यह कार्य कबीर ने किया। कबीरदास ने अपने गुरु रामानन्द से विभिन्न सिद्धान्तों का प्रचार किया, इसलिये वे वैष्णव सम्प्रदायी नहीं माने जा सकते। कबीर का यद्यपि कोई विशेष सिद्धान्त नहीं मिलता, परन्तु विशेषतया और प्रधानतया वे निर्गुण-

पासक है। साकार ईश्वर की उपासना उन्होंने नहीं किया। यथा :—

'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। रामनाम कै मरम है आना॥"

"कहै कबीर विचारि कै जाके वर्न न गाँव।
निराकार औ निगु'ना, है पूरन सब ठाँव॥"

"सब का साखी मेरा सांई।

. .

राजस, तामस, सात्विक, निरगुन, इनते आगे सोई॥"

"निराकार औ निगु'ना है पूरन सब ठाँव', और 'राजस, तामस, सात्विक, निरगुन इनते आगे सोई' इन दोनों कथनों पर विचार करने से यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि कबीर का 'मेरा सांई' के विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं था, फिर भी इस 'मति दोलायते' के बीच मे अधिकतया कबीर मे निर्गणो-पासना ही लक्षित होती है। कबीरदास एक ओर तो भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित हुए और दूसरी ओर सूफी मत से। इन्हीं दोनों के मिश्रण से उन्होंने अपना सिद्धान्त बनाया है। कबीरदास के सिद्धान्तों को समझने के लिये अद्वैतवाद और सूफी मत का थोड़ा-सा परिचय आवश्यक है। यद्यपि ये विषय अत्यन्त गहन है और प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध नहीं रखते, परन्तु प्रसंगवश इन पर यहाँ थोड़ा-सा प्रकाश डाल देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। अद्वैतवाद 'तत्त्वमसि (वह तू है)' पर निर्धारित है। इसके अनुसार ईश्वर और जीवात्मा एक ही है। प्रकृति (जीवात्मा) केवल माया के कारण ईश्वर (परमात्मा) से भिन्न है। इस माया से छुटकारा पाने के लिये ज्ञान और प्रेम दो साधन है। प्रत्येक साधन के दो भिन्न विधान है, एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। व्यक्त में ईश्वर के साकार और अव्यक्त में निराकार रूप की उपासना का नियम है।

एक प्रकार के साधक सगुणोपासक और दूसरे प्रकार के निर्गुणोपासक कहे जाते हैं।

सूफी मत पहले फ़ारस में उत्पन्न हुआ। इसमें सनातन मुस्लिम आदर्शों का विरोध किया गया। इस मत के माननेवाले संसार के सारे सुखों से मुँह मोड़कर फकीर की भाँति जीवन व्यतीत करते हैं। सूफी मत पर भारतीय अद्वैतवाद की छाप है। इसके अनुसार भी आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु अद्वैतवाद की भाँति सूफी मत में आत्मा और परमात्मा के बीच माया कोई व्यवधान नहीं उत्पन्न करती है। आत्मा में यदि 'प्रेम की पीर' है तो वह परमात्मा से मिलने के लिये अग्रसर होती है। आत्मा अपनी इस यात्रा में किसी भी कठिनाई के आने पर नहीं घबड़ाती है क्योंकि उसे प्रेम का 'नशा' रहता है। संसार के प्रत्येक वस्तु में वह परमात्मा को देखती है। सूफी मत में परमात्मा को स्त्री का और आत्मा को पुरुष का रूप दिया गया है।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कबीरदास अद्वैतवाद और सूफी मत दोनों से प्रभावित हुए, परन्तु उन्होंने सूफी मत के ब्रह्म का स्त्री रूप ग्रहण नहीं किया। उन्होंने परमात्मा के पुरुष रूप ही को स्वीकृत किया है। लेकिन भारतीय ज्ञानमार्ग में सूफियों का प्रेममार्ग मिलाकर इन्होंने अपने लिए एक अलग गङ्गा-जमुनी धारा प्रवाहित की है, जिसमें न तो अद्वैतवाद के गङ्गा का श्वेत जल ही है और न सूफीमत के यमुना का श्यामवर्ण वारि ही। निम्नलिखित अवतरणों से उपर्युक्त कथन की पुष्टि भली भाँति हो जाती है—

(१) जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहिं समाना यह तत कथौ गियानी॥
तत्त्वमसी इनके उपदेशा, ई उपनिषद कौ सन्देसा॥
(अद्वैतवाद)

(२) दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना ।
बहियाँ पकरि पिय लै चले तब उजुर न करना ॥
हरि मोर पीव माई हरि मोर पीव ।
हरि बिनु रहि न सकै मोर जीव ॥
हरि मोर पीव मै राम की बहुरिया ।
राम बडे मै छुटक लहुरिया ॥ (सूफीमत)

कबीर के सिद्धान्तों का भली भाँति अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनका ईश्वर निराकार और निर्गुन है । उसकी स्थिति सर्वत्र है । वे 'नहि निरगुन, नहिं सरगुन भाई, नहि सूक्ष्म अस्थूल ; नहि अक्षर, नहिं अविगत भाई, ये सब जग की भूल' को मानते थे । कबीरदास वर्णाश्रम व्यवस्था के कट्टर विरोधी थे और मनुष्य-जाति में सभी को बराबर समझते थे, ऊँच-नीच का भेद कबीर के लिए कुछ नही था । 'मुक्ति किसी की बपौती नही है, सभी को मिल सकती है,' यह कबीर का दृढ़ विश्वास था और यही उपदेश वे सबको देते थे ।

कबीरदास प्रतिमा-पूजन, बहुदेवोपासना तथा मूर्तिपूजा के बहुत बड़े विरोधी थे । ये रोजा, नमाज, बलि तथा कुर्बानी को ढोंग समझते थे । ईश्वर के बाह्य स्वरूप के उपासकों को इन्होंने बहुत ही खरी-खोटी सुनाई है ।

कबीर का हिन्दू-मुसलिम एकता के प्रति प्रयत्न :—

कबीर के उद्भव-काल में मुसलमानों का आधिपत्य भारत मे भली भाँति हो चुका था । कुछ मुसलमान तो स्वधर्मी विजेताओं के साथ-साथ आकर भारत में बस गये थे और बहुतों को इन्होंने शक्ति प्रयोग द्वारा इसलाम धर्म स्वीकृत कराया था । इसलाम धर्म में काफिरों का विनाश करना ही सबसे बड़ी धार्मिकता है तथा मुसलमानों के अनुसार जो कोई इसलाम धर्म को नही मानता

वही काफिर है। अस्तु, मुसलमान शासक तथा उनकी धर्मानुयायी मुसलमान जनता हिन्दुओं को सताने में कोई कोर-कसर नहीं रखती थी। दूसरी ओर हिन्दू भी इन म्लेच्छ विजातीय विजेताओं को घृणा की दृष्टि से देखते थे। कबीर के समय में उत्तरी भारत में लोदी-वंशीय शासक शासन करते थे। हिन्दुओं के प्रति लोदियों की वही अनुदारता थी जैसी कि हो सकती थी। शासकवर्ग की क्रूरता के साथ-साथ हिन्दुओं और मुसलमानों की धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ दोनों के पारस्परिक बैर-भाव को चौगुना बढ़ाये हुए थीं, अस्तु, दोनों में प्रायः द्वन्द्व हुआ करता था। कबीरदास को यह पारस्परिक द्वन्द्व बहुत अप्रिय लगा और एक सच्चे समाज-सुधारक की भाँति उन्होंने इसको दूर करने का भरपूर प्रयत्न किया। एक सच्चे पारखी की भाँति कबीर तुरन्त समझ गये कि इस बैर-भाव का मूल कारण दोनों धर्मों का बाह्याडम्बर तथा झूठी कट्टरवादिता है और एक खरे हृदय की भाँति निर्भीकता के साथ सच्ची बात को व्यक्त करने में तथा झूठों और पाखण्डियों का भण्डाफोड़ करने में उन्होंने कुछ भी संकोच न किया। उन्होंने धर्म की सच्ची व्याख्या की और जनता को यह उपदेश दिया कि ईश्वर एक ही है चाहे उसे राम कहो या रहीम। ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना की है और उसकी दृष्टि में संसार के सभी जीव बराबर हैं, कोई न तो ऊँचा है और न तो नीच। ईश्वर "न तो मन्दिर में है, न मसजिद में है, न काबे में है न कैलाश में।" उसकी प्राप्ति केवल सच्चे ज्ञान से हो सकती है। रोज़ा, नमाज, पूजा और सिजदा केवल कोरे आडम्बर हैं।

दोनों धर्मों के भण्डाफोड़ होने पर पण्डित और मौलवी इनके विरुद्ध हो गए। कबीर ने निर्भयता से दोनों का सामना किया और दोनों की तीव्र आलोचना की। उन्होंने अवतारवाद, प्रतिमा-पूजन तथा बहुदेवोपासना का घोर खण्डन किया—

दुनिया कैसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर का चकिया कोउ न पूजै जिसका पीसा खाय॥
मूड़ मुड़ाये हरि मिलें, सब कोउ लेय मुड़ाय।
बार बार के मूड़ते भेंड न बैकुंठै जाय॥
फूटी आँख विवेक की, लखै न संत असंत।
जाके संग दस बीस हैं, ताको नाम महंत॥

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलै, दाढ़ी बढ़ाय जोगी ह्वै गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौलै, काम जराय जोगी ह्वै गैले हिजरा॥

उन्होंने मुल्लाओं को भी आड़े हाथों लिया। ईद, रोज़ा, नमाज़ और कुर्बानी को झूठा ढोंग बतलाया। इन्होंने डंके की चोट पर कहा कि—

झूँठा रोज़ा झूँठी ईद।
जो खुदाय मसज़िद बसत और मुलुक केहि केरा॥
दिन भर रोज़ा रहत है, राति हनत है गाय।
यह तो ख़ून वह बन्दगी कैसे खुशी खुदाय॥
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहरा है?

इस प्रकार दोनों धर्मों का खण्डन मण्डन करके कबीर ने अपने इस सिद्धान्त को लोगों के सामने रखा—

गहना एक कनक ते गहना, तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापे एक नेवाज़ एक पूजा॥
वही महादेव, वही मुहम्मद ब्रह्मा आदिम कहिए।
कोई हिन्दू कोई तुरुक कहावै एक ज़मी पर रहिए॥
वेद किताब पढ़ैं, वे कुतबा वै मुल्ला वै पांडे।
बिगत बिगत के नाम धरायौ यक मॉटी कै भाँड़े॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'यक मॉटी कै भाँड़े' का सच्चा कथन हिन्दू और मुसलमान दोनों के पारस्परिक वैमनस्य को

मिटाने के लिए पर्याप्त था। परन्तु तत्कालीन स्थिति ऐसी थी कि कबीर को यथोचित सफलता न मिली। हिन्दू-मुसलिम संघर्ष को प्रारम्भ हुए कोई बहुत अधिक दिन न हुए थे; दूसरे शासक वर्गीय मुसलिम जनता कबीर के उपदेशों पर भला कब ध्यान देती, विशेषतया ऐसी स्थिति में जब कि निशस्त्र हिन्दू जनता पर प्रतिपल उनके सङ्गीन चमचमाया करते थे। फिर भी कबीर का संदेश बहुत कुछ सफल हुआ। धार्मिक दृष्टिकोण का परित्याग करके बहुत से हिन्दू मुसलमान कबीर के शिष्य हुए।

संतभूषण सूरदास

परिचय—श्रद्धाभिभूत सुरम्य संगीत से मानव हृत्तंत्री को निनादित करनेवाले, हिन्दी साहित्य के अमूल्य रत्न, संतभूषण सूरदास का नाम साक्षर और निरक्षर, संत और असंत, बच्चा-बच्चा जानता है, परन्तु अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में सूरदास के विषय मे ठीक-ठीक मतैक्य नही हो सका है। कुछ लोगों का अनुमान है कि सूरदास का जन्म संवत् १५४० में दिल्ली के पास 'सिही' नामक गॉव मे हुआ था। वैष्णवसंत विट्ठलनाथ जी कृत 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार इनका जन्म मथुरा से आगरा जानेवाली सड़क पर रुनकता नामक गॉव में हुआ था। इनके पिता पण्डित रामदास सारस्वत ब्राह्मण थे। 'भक्तमाल' में भी सूरदास को ब्राह्मण ही बतलाया गया है। परन्तु सूरदास के दृष्टकूटों की एक टीका है, जो उन्हीं के नाम से अंकित है और इसलिए उन्हीं की बनाई हुई प्रतीत होती है। इस टीका में एक पद सूरदास के वंश-परिचय पर है जिसके अनुसार सूरदास चन्दवरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट ठहरते हैं। परन्तु यह खेद का विषय है कि मतमतान्तर के झगड़े के कारण हमारे बहुत से प्राचीन कवियों की कृतियों में बीच-बीच में बहुत सी बाते घटा और बढ़ा दी गई है, जिसके कारण कहीं तो कवि के दृष्टिकोण में पृथ्वी और आकाश का अन्तर पड़ गया है। अस्तु, इस टीका को हम प्रामाणिक नहीं मान सकते हैं, यह सूरदास के नाम पर किसी अन्य कवि की बनाई हुई होगी। सूरदास के गुरु वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ द्वारा प्रणीत 'चौरासी वैष्णवों' की वार्ता के अनुसार

सूरदास का जन्म रुनकता ग्राम में होना और इनका सारस्वत ब्राह्मण होना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

सूरदास के पिता रामदास एक निर्धन ब्राह्मण थे। आठ वर्ष की अवस्था में सूरदास मथुरा गये और वहाँ से लौटकर फिर घर नहीं आये। कहा जाता है कि सूरदास जन्मान्ध थे। इस कथन को, लोगों ने सूरदास के किसी पद पर जिनमें उनके अन्धे होने की चर्चा है, निर्धारित किया है। लेकिन सूरदास की सजीव वस्तु व्यञ्जना शैली को देखकर यह कथन सत्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि कोई भी जन्मान्ध किसी भी वस्तु का केवल कल्पना के बल पर इतना विशद वर्णन नहीं कर सकता है जितना सूरदास ने किया है—

बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे। क्योंकि शृंगार तथा रूप-रंगादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता। हो सकता है सूर ने अपनी ज्ञान-चक्षु हीनता का संकेत 'सूरदास सौं कहँ निठुराई नैनन हू की हानि' में किया हो। सूरदास का पारिवारिक जीवन जनश्रुति के अनुसार यह है। सूरदास का वास्तविक नाम विल्वमङ्गल था। इनका चरित्र भ्रष्ट तथा निकृष्ट था। अपनी स्त्री को छोड़कर ये एक वेश्या के जाल में फँस गए। उसका नाम चिन्ता था। अँधेरी रात में कड़कते हुए बादलों तथा चमकती हुई बिजली का कुछ भी ध्यान न करके, मरणासन्न रोगग्रस्त पिता के चीत्कार की अवहेलना करके तथा करबद्ध सती-साध्वी पत्नी के करुण प्रार्थना का तिरस्कार करके वाराङ्गना के प्रेम का पुजारी निबिडतम में जलशव को काष्ठखण्ड मानकर वर्षाऋतु की भरी हुई नदी पार कर गया और गवाक्ष-अवलम्बित सर्प को अपनी प्रेमिका द्वारा लटकाई हुई रस्सी समझकर उसके कमरे में जा पहुँचा। क्या प्रेम

अन्धा नहीं होता है। चिन्ता को भी चिन्ता हुई और उसके क्षुद्र जिह्वा से दो एक सदुपदेश पूर्ण वाक्य निकल पड़े। फिर क्या था। सूरदास वैरागी होगए। परन्तु हृदय अभी पक्का नहीं हुआ था। माया और तृष्णा ने अभी पीछा नहीं छोड़ा था। मार्ग में जाते समय एक दिन किसी कृपक को नवोढ़ा स्त्री पर इनकी दृष्टि अटक गई उसके पीछे कृपक के घर जा पहुँचे। कृषक घर पर नहीं था। भारतीय नारी ने इस पथ-भ्रष्ट योगी के साथ भी अपनी भारतीयता का परिचय दिया। आतिथ्य में विल्वमङ्गल ने सहरमण की याचना की। जब कृषक आया तो उसकी भार्या ने कलेजे पर पत्थर रखकर अतिथि के आतिथ्य-याचना को अपने पति के सामने रखा। भला भारतवासी कहीं अपने आदर्श से पतित हो सकता है। कृषक ने सहर्ष अतिथि-याचना को स्वीकार किया? फिर तो कामासक्त योगी की आँखे खुल गयीं। विल्वमङ्गल कृषक-रमणी के चरणों पर फूट-फूट कर रोने लगे। पश्चात्ताप में सूचिका से पापी नेत्रों को फोड़ लिया और अब सच्चे वैराग्य-तत्व को समझ गये।

संक्षेप में सूरदास के विषय में यही प्रवाह है और अनेक किम्वदन्तियाँ है। परन्तु इस स्थल पर यही पर्याप्त है। यह किम्व-दन्ती सत्य सी प्रतीत होती है क्योंकि इसमें कोई ऐसी बात नहीं है जो मानव स्वभाव के प्रतिकूल हो। अन्धे हो जाने के उपरान्त सूरदास गऊघाट पर रहने लगे। भक्ति की ज्योति हृदय-मन्दिर में पूर्ण रूप से जग गई। अपने भक्तिपूर्ण पदों को गा-गा कर सुनाने लगे। संयोगवश प्रेम-प्रधान-कृष्ण-भक्ति के प्रचारक श्री वल्लभाचार्य से सूर की भेट हुई। उन्होंने सूरदास को दीक्षा दी। उनकी आज्ञा के अनुसार सूर ने श्रीमद्भागवत की कथा को भाषा में वर्णन करने के कार्य को आरम्भ किया। सूरदास ने स्वयं बतलाया है कि—

'श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो।'

वल्लभाचार्य के गोलोकवास पर उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी आचार्य हुए। उन्होंने कृष्णभक्ति के आठ-सर्वोत्तम कवियों को लेकर अष्टछाप की स्थापना की और उसमें सूरदास का प्रथम स्थान रखा। इस घटना का वर्णन सूरदास ने यों किया है—'थपि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप।'

कहा जाता है कि चर्मचक्षुहीन सूरदास एकबार कुएँ में गिर कर आठ दिन वहाँ पड़े रहे। आठवें दिन भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें निकाला और तुरन्त अन्तर्धान हो गए। सूरदास ने विह्वल होकर कहा—

बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानि कै मोहि।
हिरदै से जब जाइहौ, सबल बखानौं तोहि॥

सूरदास के रचे हुए पाँच ग्रन्थ—सूरसागर, साहित्य लहरी, सूरसारावली, ब्याहलो, और नल दमयन्ती—बतलाये जाते हैं। इनमें अन्तिम दो का पता अब तक नहीं चला है। साहित्य लहरी का निर्माण-संवत १६०७ दिया गया है। इसी के आधार पर तथा सूरसारावली के आधार पर इनका जन्म-मरण काल निश्चित किया गया है। सूरसारावली में एक पद इस प्रकार है—

गुरु प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रवीन।
शिव-विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन॥

इसके अनुसार सूरदास का कम-से-कम ६८ वर्ष जीना निश्चित है। सूरदासकृत सूर के दृष्टकूट तथा साहित्य-लहरी और सूरसारावली में व्यक्तिगत संकेत के अनुसार सूरदास की आयु ८० वर्ष मानी जाती है। अस्तु सूरदास का गोलोकवास संवत् १६२० में पारसोली नामक गांव में होना सर्वसम्मत से माना जाता है। मरते समय सूर के मुख से यह पद निकला था—

खंजन-नैन रूप-रस-माते।
अतिसै-चारु, चपल अनियारे, पल-पिंजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के उलटि उलटि ताटक फंदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते॥

भाषा तथा शैली—सूरदास के समय तक हिन्दी साहित्य में बहुत से काव्यों की रचना हो चुकी थी, परन्तु 'सूरसागर' ही ऐसी पहली रचना मिलती है जिसको हम पूर्णतया साहित्यिक कह सकते है। सूरसागर के पहले कोई ऐसा ग्रन्थ नही मिलता जिसकी भाषा में इतना माधुर्य हो। 'ब्रजभाषा' सूर के हाथ में पड़कर अपने चरमतम उत्कर्ष तक पहुँच गई है। यह बात अवश्य ठीक है कि आगे चलकर देव और मतिराम आदि की लेखनी से ब्रज-भाषा में और अधिक मिठास आगई, लेकिन उसका वास्तविक रूप-रंग सूर ही की कूचिका से साहित्य पृष्ठ पर निर्मित हुआ। सूर की भाषा का सर्व प्रधान गुण यह है कि उन्होंने साधारण घरेलू शब्दों को व्यवहृत किया है और वे प्रस्तुत-प्रसग के लिए इतनी उपयुक्तता के साथ प्रयुक्त हुए है कि उनके स्थान पर कोई दूसरा शब्द रखा ही नही जा सकता है। संस्कृत की तत्समपदावली, जिसने तुलसी की अवधी भाषा को अपूर्व साहित्यिक तथा ओजपूर्ण करदिया है, सूर मे नहीं पायी जाती है। उक्ति-चमत्कार तथा पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये इन्होंने किसी भी शब्द का प्रयोग नही किया है।

निम्नलिखित पद सूर की भाषा-सरलता का नमूना है—

मुरली तऊ गोपालहि भावति।
सुन री सखी जदपि नँद नँदहि नाना भाँति नचावति॥
राखत एक पाँय ठाढो करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग आप आज्ञा गुरु करि टेढी है जावति॥

\+ \+ \+ \+ \+

भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट हम पर कोप कृपावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सु सीस डुलावति॥

उपर्युक्त उद्धरण में छोटे-मोटे शब्दों से जिस गहन भाव व्यञ्जना का चमत्कार सूर ने दिखलाया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही बात सम्पूर्ण 'सूरसागर' में पायी जाती है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पंक्ति और प्रत्येक पद माधुर्य से ओत-प्रोत है। सूर के पदों का प्रभाव मस्तिष्क पर नहीं, हृदय पर पड़ता है जिससे हृततंत्री के सूक्ष्म तार झंकृत हो उठते हैं। दृष्टकूटों को छोड़कर कोई भी ऐसा पद सूर ने नहीं रचा है, जिसमें पाठक को कवि के पाण्डित्य की झलक मिलती हो। कोई शब्द ऐसा नहीं है जिसमें कर्कशता अथवा कर्णकटुता हो। सूर ने संयुक्ताक्षरों का बहिष्कार किया है। बोलचाल के मुहावरों तथा शब्दों को इन्होंने ज्यों का त्यों प्रयुक्त किया है—

'एक जीव एक प्राण कहावत सूरश्याम झगरो।'
'तुम बिन और न कोऊ कृपानिधि पावै पीर पराई।'

सूर की घरेलू किन्तु साहित्यिक, गहनभाव-व्यञ्जक किन्तु कोमल-कान्त-कलेवरा पदावली का एक नमूना और लीजिये—

मैया मोरी, मैं माखन नहिं खायो।
भोर भये गैयन के पाछे, मधुबन मोहि पठायो।
चार पहर बंसीवट भटक्यो, साँझ परे घर आयो॥
मैं बालक बैयन को छोटो, छींको केहि विधि पायो।
ग्वाल बाल सब ग्याल परे हैं, बरबस मुख लपटायो॥
तू जननी मनकी अति भोरी, इनके कहे पतियायो।
तेरे जिय कछु भेद उपजत है, जानि परायो जायो॥
यह लै अपनी लकुट-कमरिया, बहुतै नाच नचायो।
सूरदास तब हँसी जसोदा, लै उर कंठ लगायो॥

ब्रजभाषा में शब्द-माधुर्य तथा लचीलापन अधिक मात्रा में

है। कवि साहित्य को शब्दों का तद्रूप व्यवहार नहीं कर सकता। उसे पिंगल के वशीभूत होकर शब्दों का अंग-भङ्ग करना पड़ता है। व्रजभाषा के कवियों में यह बात विशेष प्रकार से पायी जाती है। सूरदास ने भी शब्दों का रूप यत्र-तत्र विकृत कर दिया है। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

'श्री संकर बहु रतन त्यागि कै, विष कंठहिं लपटेय।'

'आनि देहिं हम अपने करते चाहति जितक जसोवै।'

'काहे को हम व्रजतन आवति खेलति रहति आपनी खोरी।'

सूरदास ने यत्र-तत्र अरबी तथा फारसी के शब्दों को प्रयुक्त किया है, परन्तु उन्हे हिन्दी के साँचे में ढाल लिया है। ख्याल, हजार, नेवाज, गरीब इत्यादि सीधे-सादे प्रचलित शब्द इनके शब्द मण्डली में पाये जाते हैं। प्रचलित लोक भाषा का तिरस्कार कोई साहित्यिक नही कर सकता है। जिस भाषा का प्रतिदिन हम प्रयोग करते है वह हमारी साहित्यिक रचनाओं में आ ही जाती है। यही बात सूर की भाषा में भी पाई जाती है।

सूरसागर—कहा जाता है कि सूरदास ने सवालाख पदों की रचना की परन्तु इस समय सूर सागर में ६ हजार पद पाये जाते हैं। जो हो, यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरदान महाकवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।' सूरसागर श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्ध पर निर्धारित है। यह कोई प्रबन्ध काव्य नहीं है। यद्यपि इसमें श्रीकृष्ण के जीवन की अधिकतर घटनाओं का समावेश होगया है, परन्तु इसमें पूर्वापर कोई ध्यान नहीं रखा गया है। यह गेय पदों का संग्रह मात्र है और इसमें गीत शैली का अनुसरण किया गया है। प्रत्येक पद कोमल तथा गेय है। कोई भी ऐसा नहीं हैं जिसमें क्रोध, वीभत्स, रोष, कर्कशता अथवा परुषता पाई जाती हो।

प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण है। पद-पद में, पंक्ति-पंक्ति में, शब्द-शब्द में सूर ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है। भक्ति-वात्सल्य प्रेम, मैत्री, पवित्रता और पुनीतता की मधुर मन्दाकिनी में अभिसिञ्चित करके सूर तमातिनम मानव हृदय को शीतल और शान्त बना देते हैं। सूर ने इन पदों में अपने आराध्य देव कृष्ण के प्रति दैन्य, दास्य, सख्य इत्यादि भावों को प्रदर्शित किया है। कृष्ण के सामने अपनी हीनता का प्रकट करना, अपने पापों का उद्घाटन करना, अनुनय-विनय करना, लड़ना-झगड़ना तथा फिर समझौते पर पहुँचना यह भक्त हृदय का उद्गार है। कृष्ण के अद्भुत कार्यकलापों का, माखन चोरी का, मधु-पुर-गमन का, कंस-वध का, गोपी विरह आदि का हृदय-ग्राही वर्णन सूरसागर में पाया जाता है। निस्सन्देह 'सूरसागर' हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जा सकता है।

सूरदास ने सूरसागर में तथा अपनी अन्य कृतियों में गीत-शैली प्रयुक्त किया है। गीत-काव्य के कविपुङ्गव सूर ही हैं। अलङ्कारों में रूपक तथा उत्प्रेक्षा का विशेष चमत्कार सूर में पाया जाता है। केवल दो एक उदाहरण यहाँ दिए जा सकते हैं—

'भृकुटी विकट नयन अति चंचल, यह छवि पर उपमा इक धावत।
धनुष देखि खंजन जिमि डरपत, नाहिं सकत उड़ि बे अकुलावत॥'

सूरदास ने रूपकों का प्रयोग बड़ी ही विशदता से किया है। इनके रूपकों की उपमान शृङ्खला कभी-कभी बहुत लम्बी हो जाती है। ऐसी दशा में प्रायः रूपक की विशदता विलीन हो जाया करती है।

सूरदास ने छोटे मोटे घरेलू वातावरण की वस्तुओं का वर्णन किया है परन्तु इनकी शैली इतनी रसात्मक है कि इनकी पंक्तियों को पढ़कर जी नहीं ऊबता है। कौन नहीं जानता कि लड़का घुटनों के बल चलता है, मिट्टी खाता है, चलते समय गिर पड़ता

है, चन्द्रमा के लिए हठ करता है ? परन्तु इन्हीं बातों का वर्णन जब सूर की लेखनी करती है तब उसमें अपूर्व चमत्कार आजाता है, यही छोटे-मोटे भाव हृदय को अनुपम आह्लाद प्रदान करते हैं। नमूने के लिए इस पद को देखिए—

हरि अपने आगे कछु गावत ।
तनक तनक चरनन सो नाचत, मनही मनहिं रिझावत ।
बाँह उँचाइ काजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत ॥
माखन तनक आपने करलै, तनक वदन मे नावत ।
कबहुं चितै प्रतिबिंब खम्भ में, लवनी लिये खवावत ॥
दुरि देखत जसुमति यह लीला, हरखि अनंद बढ़ावत ।
'सूर' स्याम के बाल चरित ये, नित देखत मन-भावत ॥

पुष्प मे कीटाणु होते है, प्राण-प्रद तिमिर-हर में प्रचण्ड किरणें होती है, चन्द्र के धवल धाम में कल्मष होता है तथा शीतल सुगन्धित चन्दनवृक्ष सर्पाविष्ट होता है। गुण-दोष सर्वत्र पाये जाते है। सूर के काव्य में पुनरुक्ति का महान दोष है। एक ही प्रसंग को कई स्थलों पर पढ़कर जी ऊब जाता है, एक ही भाव कई पदों में पाठको के सामने आया करता है और अरुचि उत्पन्न कर देता है।

सूरदास की कविता का प्रधान गुण सरलता है। परन्तु सूरदास ने दृष्टकूटो मे अपनी पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा को पूर्ण किया है। इनका अर्थ समझने में बहुत बड़ी माथा-पच्ची करनी पड़ती है। विचार तथा स्मरण-शक्ति पर जोर लगाना पड़ता है। यहाँ पर हम एक दृष्टकूट उद्धृत करते है। दृष्टकूटों के अर्थ के लिए सरदार कवि की बनाई 'सूर-दृष्टकूट' की टीका से सहायता ली जा सकती है।

तनि हठ करहु सारँग-नैनी,
सारँग ससि सारँग पर सारँग, ता सारँग पर सारँग-बैनी ।
सारँग रमन दमन गुनि सारँग, सारँग सुत दृढ़ निरखनि पैनी ॥
सारँग कहो सु कौन विचारो, सारँगपति सारँग रवि सैनी ।
सारँग सदनहि लै जु चलन गये, अजहुं न मानत गत भइ रैनी ।
सूरदास प्रभु तव मग जोवै, अंधक रिपु तारिपु सुग दैनी ॥

सूर की विचार-धारा—

काव्य के दो अङ्ग होते हैं भाव और भाषा । भाव काव्य का प्राण है और भाषा तथा शैली उसका परिधान । भाव हृदयाह्लाद-कारी सुन्दरी है, तो भाषा उस सुन्दरी का वाह्यावरण । दोनों में से एक के अभाव से दूसरा शून्य सा हो जाता है । ऊपर हम सूर की कविता-कामिनी का वाह्य रूप देख चुके हैं, अब उनके विचार-धारा की व्याख्या भी समीचीन है । सूर के काव्य की उपमा एक सुकुमार पंकज से दी जा सकती है । किसी भी साहित्य के भ्रमर को सूरकाव्य शतदल के सुकुमार पंखड़ियों पर काव्यानन्द का मधुर मकरन्द अवश्य प्राप्त होगा । सूर के काव्य में प्रेम, वात्सल्य और मार्दव की प्रचुरता है । सूरदास ईश्वर के अनन्य भक्त और उच्चकोटि के महात्मा थे । उनके प्रत्येक पद के प्रत्येक शब्द में संतत्व की झलक मिलती है । कृष्ण ही सूर के सब कुछ स्वामी, सखा, बन्धु, परिजन इत्यादि हैं, पर जहाँ पर तुलसी ने अपने उपास्य देव के प्रति सेव्य भाव प्रदर्शित किया है सूर ने सख्य भाव को प्रधानता दी है । तुलसी राम के उपासक थे और राम की आराधना स्वामि के रूप में करते थे, सूर अपने कृष्ण को अपना मित्र समझते हैं और उनके समक्ष अपने गुण-दोषों को खोलकर रखदेते हैं, उनको उनकी ईश्वरता, पतित पावनता, शक्ति सम्पन्नता

आदि का स्मरण कराकर अपनी हीनता, पापशीलता तथा सांसारिक मोह-माया-ममता दिखलाते हैं और उद्धरित होने के लिये लड़ने झगड़ने लगते हैं, यथा—

आजु मैं एक एक कौ टरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढिन को पतितै ह्वै निस्तरिहौ॥
× × × ×
अवहीं उघरि नचन चाहत हौ तुमहि विरद विनु करिहौं॥
कत अपनी परतीति नसावत मै पायौ हरि-हीरा।
'सूरदास' तवही लै उठिहौ जव हँसि दै हौ वीरा॥

सूरदास सगुणोपासक है, निर्गुण ब्रह्म तक उनकी बुद्धि नहीं पहुँचती। सगुणोपासना सूर इस लिये करते है कि ईश्वर की साकार मूर्ति उनके हृदय में आशा का संचार करती है, तथा मति को स्फूर्ति देती है—

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यो गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै॥
मन यानी को अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख, गुनजाति, जुगुति विनु निरालम्ब मन धावै॥
सव विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन पद गावै।

यह कारण हैं सूर के सगुणोपासना का। यही नहीं ऊद्धव-गोपी संवाद मे सूर ने गोप ललनाओं के मुँह से निर्गुणोपासना का उपालम्भ इस प्रकार कराया है :—

(क) निर्गुन कौन देस को वासी।
मधुकर हँसि समुझाय सौंह है वूझति सांच न हाँसी॥
को है जनक जननि को कहियत कौन नारि को दासी।
कैसो वरन भेस है कैसे वहि रस में अभिलासी॥
× × ×

(ख) ऊधो मन नाहीं दस-बीस ।

एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस ॥

× × ×

(ग) रूप न रेख, बरन जाके नहिं, ताको हमैं बतावत ।

अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूँ हौ पावत ॥

कृष्ण-भक्ति मार्गी कवियों में कृष्ण के प्रेममयी मूर्त्ति की ही प्रधानता है। भक्ति के आवेश में इस मार्ग के कवियों ने कृष्ण में प्रेम, शृङ्गार और वात्सल्य की प्रचुरता ही पायी है, उनके लोक कल्याणकारी मूर्ति का दर्शन इन्हें नहीं हुआ। यही कारण है कि इस मार्ग के भक्त कवियों की कृतियों में आप कृष्ण को माखन चुराते, गाय चराते, यमुना के तट पर गोपबाल और बालाओं के साथ रास रंग मनाते तथा गोपियों से रार-तकरार करते और उनका चीर हरण करते भले देख लें लेकिन दुष्टों का दमन करने वाले, ब्रज की रक्षा करने वाले, यमुना में रहने वाले नाग का वध करने वाले तथा कंस, शिशुपाल, जरासंध इत्यादि दुष्ट राजाओं का वध करके सुव्यवस्थित राज्यव्यवस्था को लोक कल्याणार्थ स्थापित करने वाले कृष्ण की झाँकी आपको कठिनता से मिलेगी। इन कवियों में समाज और लोक के व्यवस्था की भावना नहीं थी। ये इस बात को जानते ही नहीं थे कि समाज किधर जा रहा है। अपने भगवत्-प्रेम की पुष्टि के लिए इन्होंने कृष्ण के सगुण तथा अत्यन्त छटामयी रूप की अभिव्यञ्जना की। सूरदास इन्हीं सर्वोत्तम पुष्टिमार्गी आठ कवियों में, जिनको लेकर विट्ठलनाथ ने अष्ट छाप की स्थापना की थी, सर्व श्रेष्ठ थे। अस्तु इनकी कविता में भी श्रीकृष्ण की वात्सल्यमयी, प्रेममयी और शृङ्गारमयी मूर्ति की झाँकी मिलती है, लेकिन अन्य पुष्टि मार्गी कवियों से सूर में अन्तर केवल इतना है कि सूर के भक्ति की प्रबलता ने, तथा

प्रगाढ़ संतत्व ने इनकी शृङ्गार तथा प्रेममयी उक्तियो को पुनीत बना दिया है, उन्हें लोकोत्तर प्रेम से अभिभूत कर दिया है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम में, गोपबालक और गोपालों के अनुराग में, पशु-पक्षी और जड़-जंगमादि का कृष्ण-तन्मयता में, श्रीकृष्ण के बाललीला, गोचारण, माखन चोरी में, गोपियों के अनुराग तथा विरह-व्यथा में, सूर ने वात्सल्य, प्रेम तथा शृङ्गार की पुनीत सरिणी प्रवाहित कर दी है।

सूरदास की पहुँच जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक है। कृष्ण के जीवन की साधारण से साधारण घटनाओं को लेकर उन्होंने असाधारण चमत्कार दिखला दिया है। बाल कार्य-कलापों तथा बाल-मनोविज्ञान का जितना विशद परिचय सूर को प्राप्त था उतना शायद ही अन्य किसी कवि को हो। कृष्ण का मिट्टी खाना, खंभे में अपना प्रतिबिम्ब देखना, घुटनो के बल चलना, देहली पर गिर पड़ना, माखन के लिए मथानी पकड़ कर रार करना, चन्द्र का माँगना, नन्द के साथ भोजन करते समय कड़वा मिर्चा खा लेने पर चिल्लाना और रोना, माखन चुराना, गोपियों से तकरार करना इत्यादि बाते कितनी साधारण है, पर इन साधारण बातों में सूर ने माधुर्य की जिस मधुर तरंगिणी को प्रवाहित किया है वह हिन्दी साहित्य की अतुल सम्पत्ति है। यह बात अवश्य है कि सूर ने तानपूरे की ध्वनि में मस्त होकर अपने आस-पास की दुनिया पर ध्यान नही दिया, भक्ति की प्रबलता मे लोक-कल्याण की भावना पर दृष्टि पात नही किया, लोकोत्तरता के समक्ष सांसारिकता को ठुकरा दिया। उन्होंने मनुष्य जीवन की गम्भीर परिस्थितियों पर ध्यान नही दिया और न तुलसी की भाँति उन्होंने उस समाज पर ध्यान दिया जिसमें वे कालयापन कर रहे थे। सूर की दृष्टि सर्व व्यापिनी नही है, पर अपने संकीर्ण

क्षेत्र में—वात्सल्य, प्रेम और शृङ्गार में—सूर अद्वितीय हैं। सूर हृदय के मृदु-भावनाओं के कवि हैं। तभी तो तानसेन ने कहा था—

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो बेध्यो सकल सरीर॥

आप की साहित्यिकता, भावों की गम्भीरता तथा वर्णन-क्षेत्र की व्यापकता इत्यादि बातों पर विचार करने से हिन्दी साहित्य में तुलसी को छोड़कर सूरदास के जोड़ का कोई भी कवि नहीं है।

महात्मा तुलसीदास

परिचय :—महात्मा तुलसीदास हिन्दी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनका जन्म संवत् भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतानुसार १५५४, १५८३ और १५८६ है, परन्तु संवत् १५५४ अधिक प्रमाणिक सिद्ध होता है। तुलसी का जन्म बाँदा जिले में राजापुर नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता पं० आत्माराम दुबे सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम हुलसी तथा स्त्री का नाम रत्नावली था। कहा जाता है कि तुलसीदास मूलनक्षत्र में पैदा हुए थे। उत्पन्न होने के समय ये बारह वर्ष के बच्चे के समान प्रतीत होते थे तथा इनके बड़े-बड़े दाँत थे। इसलिए इनके माता-पिता ने सर्वनाश के भय से इन्हे त्याग दिया। जनश्रुति के अनुसार इनकी स्त्री रत्नावली बड़ी ही रूपवती थी। उसके प्रेम में तुलसी इतने उन्मत्त थे कि एक बार जब वह इन्हे बिना सूचना दिए ही मायके चली गई तो ये उसके पीछे-पीछे वहाँ भी जा पहुँचे और लोक लज्जा पर कुछ भी ध्यान न दिया। स्त्री ने खिन्न होकर कहा—

अस्थि चर्ममय देह मम, तासे जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम मँह, होत न तौ भव भीति ॥ १ ॥
लाज न लागी आपको, दौरे आये साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौ मै नाथ ॥ २ ॥

तुलसी के हृत्स्थल पर व्यंगशायक ठीक जा बैठा। घरबार, स्वजन—परिजन, शत्रुमित्र तथा धन-धाम सभी तजकर तुलसी ने वैराग्य ले लिया। सांसारिक प्रेम की अध मुखी तरंगिनी लोकोत्तर प्रेम की ऊर्ध्व-मुखी आकाश गंगा बन गई। नरहरिदास

से दीक्षा लेकर तुलसी काशी में रहने लगे। कुछ समय के उपरान्त उन्होंने अवधपुरी में आकर रामचरित की रचना संवत १६३१ में प्रारम्भ की। रामचरित मानस में उसके प्रारम्भ का काल तथा अपने गुरु की वंदना तुलसी ने इस प्रकार किया है :—

(क) संवत् सोलह सौ इकतीसा। करौं कथा धरि हरि पद सीसा॥
नौमी भौमवार मधु मासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
(ख) वंदौं गुरुपद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।

तुलसीदास काव्य, पुराण, दर्शन, मीमांसा, गीता, इत्यादि संस्कृत साहित्य के धार्मिक और साहित्यिक सभी प्रकार के ग्रन्थों के पण्डित थे। रामचरित मानस इस बात का प्रमाण है कि जितना विस्तृत ज्ञान तुलसी का था, उतना आज तक किसी हिन्दी के कवि का नहीं हो सका है। उन्होंने 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' का तत्व रामायण में 'निग दित' किया है। यश अथवा धन प्राप्ति की इच्छा से रामायण की रचना नहीं की गई प्रत्युत 'स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबन्ध मति मञ्जुल मातनोति'।

निम्न लिखित सुप्रसिद्ध दोहे के अनुसार तुलसी की मृत्यु संवत १६८० में काशी में हुई :—

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर॥

रामचरित मानस, विनय पत्रिका, गीतावली, कवितावली, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, दोहावली, बरवै रामायण, राम-सतसई तथा रामलला नहछू तुलसी की रचनाओं में प्रसिद्ध है।

भाषा तथा शैली—भाषा और भाव दोनों दृष्टि कोणों से तुलसीदास हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कलाकार हैं।

तुलसीदास के पूर्व हिन्दी कवियों ने जिस भाषा का प्रयोग किया था वह साहित्यिक नहीं कही जा सकती। वीर गाथा काल की राजस्थानी हिन्दी साहित्यिकता से कोसों दूर है। केवल सूर ने व्रजभाषा के परिमार्जित रूप का प्रयोग किया था। अवधी भाषा में जायसी ने पद्मावत की रचना की थी लेकिन पद्मावत की भी भाषा पूर्णतया परिमार्जित नही हो पाई है। यों तो तुलसी ने हिन्दी भाषा के सभी रूपों में रचना किया है परन्तु उनको विशेष सफलता अवधी ही में मिली है। हिन्दी काव्य की शक्ति का तथा अवधी भाषा की साहित्यिकता का चरमतम विकास तुलसी की लेखनी से हुआ। अवधी भाषा में तुलसी ने साहित्यिकता, परिमार्जन तथा मार्दव का सृजन बड़ी ही कुशलता से किया है। उदाहरण के लिए सहस्रशः परिच्छेद उपस्थित किए जा सकते हैं। यहाँ पर केवल दो चार पंक्तियाँ उद्धृत करके ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा :—

(क) प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥
परम प्रेम मय मृदु मसि कीह्नी। चारु चित्र भीतर लिखि लीह्नी॥

(ख) रजनीचर मत्त गयंद-घटा विघटै, मृगराज के साज लरै।
झपटै, भट कोटि मही पटकै, गरजै रघुबीर की सौंह करै॥
तुलसी उत हाँक दसानन देत, अचेत भे वीर को धीर धरै।
बिरुझो रन मारुत को बिरुदैत, जो कालहुँ काल सो बूझ परै॥

अवधी भाषा के अतिरिक्त तुलसी ने व्रज भाषा का भी उपयोग किया है जिसकी मधुरता और मृदुलता व्रजभाषा के आचार्यों की भाषा को फीका कर देती है। तुलसीदास की परिष्कृत व्रजभाषा का नमूना हमें कवितावली और विनय-पत्रिका में विशेष रूप से मिलता है। दो-एक नमूने देखिए :—

(क) जाके प्रिय न राम वैदेही।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
नाते नेह रामहि के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुत हौं कहौं कहाँ लौं ॥

× × ×

(ग) पुरते निकसीं रघुबीर बधू धरि धीर दियो मग में पग द्वै ।
झलकीं भरि भाल कनी जलकी पट सूखि गयौ अधरा धर द्वै ॥
पुनि पूछति है चलिबो बा कितो पिय पर्णकुटी करिहौ कितह्वै ।
तिय की सुनि आतुरता पिय की अखियो अति चारु चलीं जल च्वै ॥

वीरगाथा काल की राजस्थानी मिश्रित भाषा का नमूना देखिए.—

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्रसर ।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर ॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर ।
सुर बिमान हिमभानु, संघटित होत परस्पर ॥

भोजपुरी तथा बुन्देल खण्डी प्रभावित भाषाओं का भी नमूना देखते चलिए:—

(क) राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे ।
नाहित भव बेगारि महँ परि हो, छूटत अति कठिनाई रे ॥

(भोजपुरी)

(ख) ए दारि का परिचारि का करि पालबी करुना मई ।
अपराध छमिबो बोलि पठए, बहुत हौं ढीठै दई ॥

यह तो हुई उपभाषाओं की बात । अब हम तुलसी की प्रधान भाषा अवधी पर विचार करेंगे । तुलसीदास संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान थे । मानस में यत्र-तत्र आए हुए श्लोकों तथा 'पुराण निगमागम' से लिए हुए भावों से यह बात भली भाँति प्रकट हो जाती है कि संस्कृत भाषा पर उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त

था। हिन्दी में रचना करते समय उनके मन में एक प्रकार की ग्लानि सी उत्पन्न हो रही थी। मानस के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है :—

भाषा भनित मोरि मति भोरी। हँसिबे जोग हँसै नहि खोरी॥
भाषा बद्ध करब मै सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥

यही कारण है कि उन्होंने स्वान्तः सुखाय रामचरित्र का गान भाषा मे ही किया। अत. तुलसी की भाषा संस्कृत प्रभावित है उसमें सस्कृत के तत्सम पदावली का वाहुल्य है। परन्तु तुलसी नें उन्ही तत्सम पदो का व्यवहार किया है जोकि सरल तथा वोध गम्य है। गोस्वामी जी की भापा में दुरुहता का नाम नही है। निम्नलिखित से उपर्युक्त की पुष्टि की जा सकती है :—

तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम. अंकित अति सुन्दर॥
चकित चितव मुद्रिक पहिचानी। हरष विषाद हृदय अकुलानी॥

केवल इन दो चौपाइयों मे १० - १२ तत्सम शव्दो का प्रयोग हुआ है लेकिन भाव व्यंजना तथा बोध गम्यता मे तनिक भी अन्तर नही पड़ा है। तुलसी ने आवश्यकतानुसार मुगलकालीन जन साधारण में व्यवहृत अरबी और फारसी के भी शव्दो का प्रयोग किया है। परन्तु पहले उन्हे हिन्दी के साँचे में ढाल लिया है। इस प्रकार के शव्द अंदेसा, खाना, गरीब निवाज, गर्दन, जहाज, जहांन, निसान, जीन, प्यादा, फौज, इत्यादि है।

ऊपर वतलाया जा चुका है कि तुलसी की भाषा का सर्व प्रधान गुण साहित्यिकता है। तुलसी ने काव्य की भाषा का लोक व्यवहार की भाषा का रूप दिया। उसमें सरलता, बोध गम्यता, सौन्दर्य, चमत्कार, माधुर्य, प्रसाद, ओज इत्यादि सभी गुणों का समावेश है। तुलसी का एक भी शव्द उक्ति चमत्कार, अथवा वाक्य वैदग्ध्य। तुकबन्दी अथवा मात्रा पूर्ति के लिए नहीं व्यवहृत हुआ है। कोई

भी शब्द फालतू नहीं है। एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसके स्थान पर अर्थ अथवा प्रसंग की रक्षा करते हुए हम दूसरा शब्द प्रयुक्त कर सकें। इसी प्रकार तुकान्त के लिये उन्होंने न तो किसी शब्द का अंगभग ही किया है। गोस्वामी जी का वाक्य विन्यास प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है। भाषा भी भावानुरूपिणी है। उनकी वर्णन शैली इतनी कुशल है कि जिस वस्तु का गोस्वामी जी वर्णन करते है उसका रूप सामने उपस्थित कर देते है। जितनी साहित्यिक विशेषतायें हो सकती है सभी तुलसी मे विद्यमान हैं। हिन्दी भाषा का उत्कृष्टता रूप गोस्वामीजी की देन है।

छन्दों के निर्वाचन मे भी तुलसी ने प्रगाढ़ विदग्धता का परिचय दिया है। हिन्दी के छन्द-शास्त्र का मूल संस्कृत-साहित्य में अंकुरित हुआ है। तुलसी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। अस्तु इन्होंने वर्णिक, मात्रिक सभी प्रकार के छन्दों का उपयोग किया है और सभी में विद्वत्ता का परिचय दिया है। वीरगाथा कालकी छप्पय पद्धति, विद्यापति तथा सूरदास की गीत पद्धति, गग आदि भॉट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, नीति के उपदेश की सूक्ति पद्धति तथा चौपाई और दोहावली पद्धति सभी प्रचलित पद्धतियॉ तुलसी की रचनाओं में पाई जाती हैं लेकिन तुलसीदास को विशेष सफलता दोहा और चौपाई वाली पद्धति में मिली है। रामचरित मानस एक प्रबन्ध काव्य है, विनय पत्रिका में फुटकर पद गीत्यात्मक शैली में रचे गये हैं, कवितावली सवैया छन्दों में है।

रसों और अलंकारों में तुलसी ने कुशल कलाकार की हस्त-लाघवता का परिचय दिया है। नवरस का ऐसा सुन्दर विधान जो कि रामचरितमानस में है, अन्यत्र नहीं पाया जाता। षट्ऋतु और नखशिख का भी वर्णन रामचरित मानस में उपलब्ध होता है। अलंकारों के प्रयोग में तुलसीदास व्यवहारिकता वादी प्रतीत

होते है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, यमक आदि का प्रयोग इन्होंने अवश्य किया है लेकिन वह वाक्य-वैदग्ध्य अथवा चमत्कार उत्पादन या पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नही। जहाँ कही अलंकारों का प्रयोग तुलसी ने किया है, वहाँ भाव व्यञ्जना के लिये किया है। कहीं भी अलंकार भाव-बोधगम्यता या कथा-प्रवाह में बाधा डालकर सामने खड़े नही नजर आते। कोई भी ऐसा ख्याल नहीं है जहाँ पर पाठक कथा-सूत्र या प्रस्तुत भाव-स्रोत से पथभ्रष्ट होकर अलंकारों में उलझ जायँ।

तुलसी की समस्त साहित्यिक विशिष्टताओं का वर्णन सहज कार्य नहीं है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि तुलसी की रचना भाषा के दृष्टिकोण से आदर्श रचना है। उसमें कोई त्रुटि नही है।

तुलसी के काव्य की अन्तरात्मा—

तुलसी के काव्य की अन्तर्गत विशेषतायें इतनी अधिक है कि उनका वर्णन एक छोटे से लेख में असम्भव है अस्तु यहाँ पर दो-एक प्रधान विशिष्टताओं का उल्लेख करके ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा। भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य हो जाने पर हिन्दू वीरता का अन्त होगया था। हिन्दू जनता पर विदेशियों का प्रति-दिन अत्याचार हो रहा था, करोड़ों हिन्दू प्रतिवर्ष बलपूर्वक धर्म से च्युत किये जाते थे। सहस्रो हिन्दू अनाथों के कान में राम के स्थान पर लाइलाह का मंत्र डाला जाता था, सहस्रों धनी निर्धन हिन्दू अबलाओं का सतीत्व दिन दहाड़े मटियामेट कर दिया जाता था और सैकड़ों पुनीत मठ मन्दिर धूल में मिला दिये जाते थे। हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू सभ्यता एक प्रकार से मिट रही थी। संकट की इस विकट स्थिति में संत कवियों ने हिन्दू जाति को नष्ट होने से बचाने का भार लिया। खुले तौर पर कोई शासन-व्यवस्था

का विरोध तो कर नहीं सकता था। इन संत कवियों ने हिन्दुओं के सामने ईश्वर की जगतपालिनी-धर्मरक्षिणी, दुष्ट संहारिणी मूर्ति को उपस्थित किया। सूर ने कृष्ण की साकार करुणामयी प्रेममयी तथा वात्सल्यमयी मूर्ति की स्थापना की। तुलसी ने अपने साकार राम को दुष्टों का दमन करने के लिए साकेत में अवतीर्ण किया और मुरझाती हुई हिन्दू जनता की आशा-बेलि को अमृतदान करके फिर से हरा-भरा कर दिया। उन्होंने लोगों को यह सन्देश सुनाया—

जब जब होय धर्म की हानी। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी॥
तब तब धरि प्रभु मनुज शरीरा। हरिहिं कृपा निधि सज्जन पीरा॥

यह अमृतोपम शुभ सन्देश हिन्दू जनता को अनस्तित्व के गड्ढे में गिरने से बचाने में कितना सफल हुआ उसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि विदेशियों के इतने उत्कट अत्याचार होने पर भी आज हिन्दू जाति जीवित है। रावण और उसकी सम्पूर्ण राक्षस-शक्तियाँ उस समय की राक्षस शक्तियों की द्योतक हैं। तुलसी का पूरा रामचरित मानस एक रूपक के रूप में है जिसकी पृष्ठभूमि तत्कालिक शासनव्यवस्था है। रावण उस समय की राक्षसी शासन शक्ति है, ऋषिमुनियों के ऊपर रावण का अत्याचार तत्कालीन शासन का हिन्दू जनता पर अत्याचार है। सीता भारत की श्री है, जिसका अपहरण रावण ने कर लिया है और राम लक्ष्मण के रूप में भारतीय नवयुवक ने विदेशियों का संहार करके भारतीय श्री, भारतीय सभ्यता और स्वतंत्रता की रक्षा की है। अस्तु गोस्वामी जी को हम भारतीय सभ्यता तथा हिन्दू जाति का महान रक्षक कह सकते हैं।

जिस राम का प्रादुर्भाव तुलसी ने किया है वह तुलसी के उपास्य देव हैं। तुलसी राम के अनन्य भक्त हैं। उनका अपने

उपास्य देव के प्रति सेव्य भाव है। तुलसी की भक्ति इतनी उत्कट है कि सोते, जागते चलते बैठते, रोते हँसते,. खाते पीते वे प्रत्येक समय राम को अपने सामने पाते है। प्रत्येक पद में तुलसी ने राम के समक्ष अपनी दीनता और दासता प्रकट की है। तुलसी की रचनाओं में कहीं भी भक्ति-शैथिल्य नहीं पाया जाता है। वस्तुतः तुलसी ही राममय है। रामचरित मानस में तुलसी ने राम का रूप गुण स्वभाव, सुन्दरता, चाल, ढाल, निवास सभी बतला दिया है। तुलसी के राम सगुण और निर्गुण दोनों है। निर्गुण रूप में वह निराकार, अज, अजय, सर्वशक्तिमान है परन्तु 'नर-तन धरेहु सन्त हित काजा' और 'सन्त पीरा' को हरने के लिये तुलसी ने राम से नर तन धारण कराया है। नर तन धारण करके वही राम जो शिव सनकादि के भी ज्ञान से परे है, साधारण मनुष्य की तरह लीलायें करता है। वह जन्म लेता है, रोता है, हँसता है पिता की आज्ञा का पालन करता है, बन जाता है, सीता के वियोग में रोता है और वन-वन मारा-मारा फिरता है। संसार के जीवन युद्ध में वह कहीं असाधरणता अथवा ईश्वरता का परिचय नहीं देता। यह है तुलसी की उपदेश चातुरी। वह लोगों को दिखला देते है कि तुम्हारा राम तुम्ही का-सा हाड़-माँस का बना है और जो-जो कष्ट तुम सह रहे हो, वही कष्ट वह भी सह रहा है। वह दिन दूर नहीं है कि वह रावण का संहार करके तुम्हारे कष्टों का निवारण करेगा।

रामचरित का सहारा लेकर तुलसी ने वही काम किया है जो मनु और याज्ञवल्क्य इत्यादि हिन्दू समाज के निर्माताओं ने किया था। तुलसी के समय में हिन्दू-धर्म की व्यवस्था जर्जर हो चुकी थी। वर्णाश्रम प्रणाली छिन्न-भिन्न हो रही थी। लोगों का सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो रहा था। पारिवारिक वातावरण

गृहकार्य में विपाक हो गया था। सहस्त्रों वर्षों की हिन्दू संस्कृति मटिया मेट हो रही थी। तुलसी ने समाज सुधारक के रूप में हिन्दू-समाज का पुनरुद्धार किया। रामायण में उन्होंने इसी उद्देश्य से यत्र-तत्र उपदेश दिया है। उपदेश के अतिरिक्त उन्होंने राजा दशरथ के पारिवारिक जीवन में एक आदर्श परिवार की योजना उपस्थित की है। एक आदर्श हिन्दू को किस प्रकार अपने प्राण को खोकर धर्म की रक्षा करनी चाहिये, किस प्रकार एक आदर्श माता को कौशल्या के समान वैमातृक पुत्र को भी पुत्रवत समझना चाहिये, पुत्र को किस प्रकार पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिये, भाई का भाई से कैसा व्यवहार होना चाहिये, पत्नी को पति का साथ किस प्रकार देना चाहिये इत्यादि अनेक सामाजिक तत्वों का सन्निवेश मानस में हुआ है। उसकी प्रत्येक पंक्ति समाज सृजन के उद्देश्य से लिखी गई है। क्या—

रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाय वर वचन न जाई।

अथवा

जिनके लहहिं न रिपु रन पीठी, नहिं दीन्हेउ परतिय मन दीठी।
मंगन लहहिं न जिनके नाहीं, ते नरवर थोरे जग माहीं।

'वरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देहिं विधाता॥'

प्रत्येक हिन्दू का आदर्श नहीं होना चाहिए? रामचरित मानस मनुस्मृति अथवा याज्ञवल्क्य स्मृति से किसी भी अंश में कम नहीं है।

तुलसी की सर्वव्यापिनी दृष्टि मनुष्य से संबन्ध रखनेवाली सभी बातों में प्रविष्ट कर गई है। राज नैतिक क्षेत्र में उन्होंने जिस आदर्श राज्य को हमारे सामने रखा है, वह है रामराज्य। रामराज्य में कैसी सामाजिक व्यवस्था होनी चाहिए वह किसी से छिपी नहीं है। 'रामराज्य' का अर्थ ही है आदर्श राज्य; ऐसी राज्य

व्यवस्था जिसमें दूध की नदियाँ बहती हों और अमृत की वर्षा होती हो, जिसमें—

वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहि भय सोक न रोग॥

सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं सुधरम निरत स्रुति रीती।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिहुँ पीरा, सब सुन्दर सब निरुज सरीरा॥
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना।
सब निर्दंभ धर्मरत धरनी, नर अरु नारि चतुर सुभ करनी॥

इस प्रकार है तुलसी का रामराज्य। तुलसी ने तत्कालीन शासन व्यवस्था का चित्र अच्छी तरह खींचा है। स्थानाभाव से केवल एक-दो पंक्तियाँ दी जा रही हैं—

राज समाज कुसाज, कोटि कटु कलपत कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीत-प्रीति परिमिति-पति हेतुवाद हठि हेरि हई है॥
आश्रम वरन धरम विरहित जग, लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप रत अपने अपने रंग रई है॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदति साधु, साधुता सोचति, खल विलसत, हुलसति खलई है॥

तुलसी के काव्य की विशेषतायें अमित है। तुलसीदास समाजस्रष्टा, धर्मोपदेषक लोकरक्षक और चतुर कथाकार थे। उनके रामचरित मानस का महत्व जितना हिन्दू-जनता मे है, उतना हिन्दुओं के किसी ग्रंथ का नही है। रामचरित मानस हिन्दुओं का धर्म ग्रन्थ है। रामचरित मानस सरल तथा गूढ़, बोधगम्य तथा दुरुह दोनों है। इसका आनन्द कम से कम शिक्षित तथा प्रकाण्ड पण्डित सभी उठाते है। यही कारण है कि रामचरित मानस टूटी-फूटी जीर्ण-शीर्ण झोपड़ी से लेकर आकाश चुम्बी

राजप्रासाद तक में सर्वतः पाया जाता है। बहुत से अनपढ़ हिन्दू हिन्दी इस लिये सीखते हैं कि वे रामायण पढ़ सकें।

तुलसी के गूढ़ भावों तथा मधुर और साहित्यिक भाषा का मूल्य आँकना सहज काम नहीं है। हिन्दी में तुलसी की समालोचना के विषय में बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और एक नवीन तुलसी साहित्य का निर्माण हो चुका है।

मलिक मुहम्मद जायसी

जीवन-वृत्त—

'पद्मावत' के सुप्रसिद्ध रचयिता सुकवि मलिक मुहम्मद जायसी के जीवनवृत्त का ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं मिला है। ये शेरशाह के समय में हुए थे। पद्मावत के आरम्भ में इन्होंने शेरशाह की प्रशंसा की है। 'पद्मावत' का प्रारम्भ काल इन्होंने ६४७ हिजरी (सं० १५६७) वतलाया है। कहा जाता है कि गाज़ीपुर में किसी निर्धन मुसलमान के यहाँ इनका जन्म हुआ था और जायस में आकर वस गए थे जैसा कि इन्होंने स्वयं वतलाया :—

"जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आय कवि कीन्ह बखानू॥"

इसके अनुसार पद्मावत के आरम्भ के कुछ ही समय पूर्व ये जायस में आये होंगे। चेचक निकल आने से जायसी एक आँख, सम्भवत. वाईं, तथा एक कान खो वैठे :—

एक नयन कवि मोहमद गुनी।

माता की मृत्यु के अनन्तर जायसी का ग्रहस्थ्य जीवन अव्यवस्थित हो गया, कुरूप तो थे ही, इनको दाम्पत्य जीवन का भी सुख नहीं मिला। ये साधुओं और फकीरों की भाँति रहने लगे और इधर-उधर माँगकर अपनी जीविका चलाते थे। हिन्दू साधुओं तथा योगियों के ससर्ग से इनको हठयोग, वेदान्त, रसायन तथा पौराणिक वृत्तों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हुआ। परन्तु तिसपर भी मुसलमानी संस्कारों का प्रभाव वना रहा। इन्होंने इसीलिये कहीं-कहीं पर अपनी रचनाओं में योग की व्याख्या में

मुसलमानी भावों को अजीब तरह से मिला दिया है। गोरखपंथी साधुओं से भी इनका अत्यधिक सम्पर्क था। ये सच्चे मुसलमान थे। ईश्वर-प्राप्ति के अनेक मार्गों को मानते हुए भी ये मोहम्मद साहब के मार्ग को श्रेष्ठतर समझते थे। जायसी परम ज्ञानी तथा भगवद्भक्त थे। ये निजामुद्दीन औलिया के शिष्य परंपरा में शेख मेहदी के शिष्य थे जैसा कि इन्होंने पद्मावत में स्वयं बतलाया है।

कहा जाता है कि अमेठी के राजा इनके शिष्य हो गये थे। उनके कोई सन्तान न थी। इन्हीं के आशीर्वाद से उनका वंश चला। इनके मरने के बाद राजासाहब ने राजमहल के सामने इनकी कब्र बनवाई जो अब तक है। इनको अभिमान छू तक न गया था। एकबार अवध के राजा ने इन्हें देखकर इनकी कुरूपता पर हँस दिया। जायसी ने तुरन्त कह दिया—"मोहिं का हँससि कि कोहरै।"

जायसी के दो ग्रंथ अब तक प्राप्त हुए हैं, पद्मावत और अखरावट। पद्मावत एक प्रेम-प्रधान काव्य है। कथावस्तु लौकिक होते हुए भी वह भावोद्रेक तथा पारलौकिकता से ओत-प्रोत है। इसी 'पद्मावत' ने जायसी को हिन्दी-साहित्य में अजरत्व तथा अमरत्व प्रदान किया है।

भाषा तथा शैली—

जायसी ने अवधी भाषा में काव्य-रचना की है। हिन्दी साहित्य में अवधी भाषा के दो श्रेष्ठतम कवि हैं, एक तुलसी दूसरा जायसी। तुलसी की भाषा साहित्यिक तथा संस्कृत-बहुला है। जायसी की भाषा बोल चाल की तथा सीधी सादी है। आधुनिक काल में अवधी भाषा हिन्दी साहित्य से उठती सी जा रही है, इस लिये जायसी की रचनायें आजकल कुछ दुरूह प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिये नीचे दिये हुए अवतरण को देखिए :—

पुनि धुनि कान-रानि मसि माँगी। उतर लिखत भीजी तन आँगी।
तस कंचन कँह चहिय सोहागा। जौ निरमल नग होई तौ लागा॥
हौं जो गई सिवमंडप भोरी। तहँवाँ कस न गाँठि तैं जोरी॥

जायसी ने ठेठ पूरबी अवधी का प्रयोग किया है। वह इतनी साहित्यक नही है तथा न इतनी परिपक्व है, जितनी कि तुलसी दास की भाषा है। जायसी का अधिकार, अन्य कवियों की भाँति, कई भाषाओं पर नही था और न जायसी को बचपन में कोई विशेष शिक्षा-दीक्षा ही मिली थी। उनको केवल लोक-भाषा अवधी का ज्ञान था। उसका उन्होने खूब साफ-सुथरा तथा स्वच्छ प्रयोग किया है। शब्दों का तोड़-मरोड़ भी नहीं है। इनकी भाषा में माधुर्य प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यह माधुर्य कुछ तो प्रसंग-वश आगया है और कुछ भाषा की अपनी मधुरता के कारण। यह संस्कृत के कोमल कान्त पदावली के प्रभाव से नहीं है। नीचे दिये हुए अवतरण को देखिये:—

चाँद सुरुज औ नखत तराई। तेहि डर अंतरिख फिरहिं सबाई॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा॥
अगिनि उठी, जरि बुझी विआना। धुआं उठा, उठि बीज बिलाना॥
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोई आइ भुइँ चूआ॥

जायसी की भाषा स्वच्छ तो है, परन्तु वाक्य-रचना पूर्णतया व्यवस्थित नही है। कही-कही पर व्याकरण की अशुद्धियाँ है। जान पड़ता है कि कवि को व्याकरण के नियमों तथा लिङ्ग भेद आदि का सम्यक ज्ञान नही था। 'चन्द्र' को इन्होंने स्त्री लिङ्ग माना है। पुराने शब्दों और रूपो का भी कहीं-कहीं पर खटकने-वाला प्रयोग मिलता है। ससहर (शशधर), भुवाल (भूपाल), विसहर (विषधर) सरह (शलभ) आदि को इन्होंने प्रयुक्त किया

है। ऐसा प्रयोग तुलसीदास ने भी किया है। कहीं-कहीं पर अप्रचलित शब्दों को प्रयोग भी पाया जाता है।

जायसी ने केवल दोहों और चौपाइयों का उपयोग किया है। ये सरल छन्द होते हैं और बड़ी सुगमता से व्यवहृत किये जा सकते हैं। जायसी को छन्द शास्त्र का सम्यक ज्ञान नहीं था। कहीं-कहीं पर दोहों में मात्राओं की कमी पायी जाती है। इनका शब्द-भाण्डार परिमित था। उपमायें, रूपक इत्यादि प्राचीन कवियों ही से इन्होंने उधार लिया है। कहीं कोई विशेष नवीनता नहीं पायी जाती है। इतिहास तथा भूगोल का भी इन्हें न्यूनतम ज्ञान था। मानसरोवर को इन्होंने सिंहल द्वीप के पास माना है जोकि हिन्दूकाव्य-परम्परा में उत्तर की ओर माना जाता है। पौराणिक कथाओं का उल्लेख भी जायसी ने किया है; परन्तु उनमें भी इधर-उधर कुछ उलट-फेर कर दिया है। सातों समुद्रों का नाम भी इन्होंने गिनाया है लेकिन वह मानस-पुराण के अनुसार नहीं है। रामायण, महाभारत, तथा ज्योतिष का इन्हें अच्छा ज्ञान था। भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों का भी इन्होंने उल्लेख किया है।

जायसी के काव्य की अन्तरात्मा—

जायसी भक्तिकाल के कवियों में हुए थे। संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों की भाँति पद्मावत एक सर्गबद्ध काव्य नहीं है वरन फारसी के मसनवियों के ढंग पर लिखा गया है। इन्होंने सारे पद्मावत की रचना लौकिक-प्रेम के आधार पर किया है परन्तु वह पारमार्थिक पक्ष में भी घटित होता है और अन्योक्ति के रूप में लिखा गया है। जैसा कि इन्होंने अन्त में स्वयं स्वीकार किया है:—

तन चितउर मन राजा कीन्हा,
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा।

जायसी सूफी मत के माननेवाले थे परन्तु भारतीय दर्शन का प्रभाव उनपर अधिक लक्षित होता है। जायसी ईश्वर को संसार की सभी वस्तुओं में पाते है जैसा कि सूफी मत के माननेवाले सभी मानते हैं। इनकी 'प्रेम की पीर' बड़ी ही तीव्र है। भावुकता जायसी में कूटकूट कर भरी हुई है और ये मर्मस्पर्शी स्थलों पर अपना हृदय निकालकर रख देते है। कबीर आदि मतमतान्तरवादी सुधारकों की भाँति इन्होंने किसी धर्म का खण्डन-मण्डन नही किया। *अनेक धर्मों की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी इन्होंने इस्लाम को श्रेष्ठ माना है।

सूफी मतवाले निर्गुणोपासक होते है और ईश्वर की प्राप्ति में प्रेमतत्व की प्रधानता देते है। वे अपने प्रियतम ईश्वर की कल्पना स्त्रीरूप में करते है। सूफी ग्रन्थकार नायिका को उतना प्रेमोत्सुक नही दिखलाते है जितना कि नायक को। परन्तु जायसी ने भारतीय पद्धति के अनुसार नायिका के सतीत्व तथा उत्कट पतिप्रेम को प्रदर्शित किया है।

'पद्मावत' एक ऐतिहासिक काव्य है। कथा का आधार चित्तौर की रानी पद्मिनी है। जायसी ने बारहमासों का तथा नखशिख का भी वर्णन किया है। प्रकृति-चित्रण खूब बन पड़ा है। *प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन मे कवि पत्ते-पत्ते में 'प्रियतम' की ज्योति पाता है।

जायसी भावुक तथा सहृदय कवि थे। सरसता तथा सौजन्य, भावुकता तथा साधुता, प्रेम की पीर तथा निरंजन ज्योति के कण-कण में विद्यमान होने का विश्वास आदि सब बाते जायसी को तुलसी और सूर के बराबर ला बैठाती है।

कवियित्री मीराबाई

परिचय—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी मेरा दरद न जानैं कोई।
घाइल की गति घाइल जानै, की जिण लाई होइ॥

अपने सरस मानस से भक्ति और प्रेम की मधुर निर्झरिणी प्रवाहित करने वाली, कृष्ण भगवान की सर्वोच्च उपासिका कवियित्री मीराबाई का जन्म तथा परलोकगमन-संवत अब भी ठीक-ठीक निश्चित नहीं किया जा सका है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अभी इस विषय पर अनुसन्धान पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ है। इसलिये साहित्य के मर्मज्ञों के कथनानुसार मीराबाई का जन्म-काल सं० १५५५ मानना पड़ेगा। जोधपुर राज्य के अन्तर्गत मेड़ता नामक एक जागीर थी। उसी जागीर के चौकड़ी नामक गाँव में इनका जन्म हुआ। इनके पिता का नाम राठौर रत्नसिंह मेड़तिया था। वे ही मेड़ता के जागीरदार थे। मीरा ने स्वयं लिखा है—

मेड़तिया घर जन्म लियो है मीरा नाम कहायो।

मीराबाई को बाल्यकाल ही से भक्ति का चसका लगा। इनका हृदय 'कृष्ण' शब्द सुनकर द्रवीभूत हो उठता था। एकबार कोई साधु इनके पिता के घर आया। उसके पास कृष्ण की मूर्ति थी। मीरा ने उस मूर्ति के लिये बड़ा हठ किया। अन्त में साधु को वह मूर्ति देनी ही पड़ी। मीरा का विवाह उदयपुर के महाराणा सांगा के लड़के भोजराज से हुआ, लेकिन उस समय तक मीरा का प्रेम भगवान श्रीकृष्ण के प्रति इतना बढ़ चुका था कि वे कृष्ण की उपासना पतिरूप में करने लगी थीं। अतः इन्होंने अपने विवाह

को लोक-मत रूप में स्वीकार नहीं किया। इसलिये जब विवाह के थोड़े ही दिनो पश्चात इनके पति का देहावसान होगया तो मीरा को कोई कष्ट नही हुआ। प्रत्युत कृष्ण-भक्ति का द्वार उन्मुक्त होगया।

अब मीरा के लिये 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' रह गया। मीराबाई कृष्ण की अनन्य भक्ति में तल्लीन हो गयी। साधु महात्माओं के सत्संग मे अपना समय व्यतीत करती, मन्दिरों में जाती और अपने उपास्यदेव के सामने प्रमोन्माद मे नाचती-गाती। यह बात इनके परिजनो को हिन्दू-कुल मर्यादा के विरुद्ध लगी और लोग इन पर दुराचरण का सन्देह करने लगे। समाज एक हिन्दूकुल की रूपवती-तरुणी विधवा को साधु और वैरागियो के संग में रातदिन कैसे देख सकता था ? अन्त में विवश होकर राणा' विक्रमादित्य ने, जो मीरा के देवर थे, अपने कुल-मर्यादा की रक्षा करने के लिये इनको इस मार्ग से च्युत करने का अकथ प्रयास किया। मीरा को समझाने के लिये स्त्रियाँ भेजी गयी। इनकी ननद् अदाबाई तथा इनकी सास ने इन्हे बहुत समझाया। कहा जाता है कि घरवालो से तंग आकर मीराबाई ने भक्त-शिरोमणि तुलसीदास के पास यह पत्र लिख भेजा :—

स्वस्ति श्री तुलसी कुल भूषन दूसन-हरन गोसांई।
बारहि बार प्रनाम करहुँ अब हरहु सोक - समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबहि उपाधि बढाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥
मेरे मात-पिता के सम हौ हरि-भक्तन सुखदाई।
हम को कहा उचित करिबो है सो लिखिये समझाई॥

गोस्वामी जी ने इसके उत्तर में यह पद लिख भेजा :—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो नर तजिय कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही॥ (वि० प०)

अब मीराबाई निर्भय होकर इधर-उधर भ्रमण करने लगी और साधु-संतों के साथ हरि-भजन में अपना समय व्यतीत करने लगीं। यह बात राणा को अतीव दु:सह हो उठी। वे मीरा की हत्या का उपाय सोचने लगे। मीरा ने स्वयं लिखा है कि 'सांप पिटारो राणा जी भेज्यो द्यो मेड़तणी गलडार' और 'विषको प्यालो राणा जी मेल्यो द्या मेड़ताणी ने प्याय'। सांप मीरा के लिये फूल होगया और विष का प्याला अमृत का प्याला होगया। मीरा ने अपने पदों में कई स्थलों पर इस सांप के पिटारे और विष के प्याले का वर्णन किया है।

मीराबाई ने आध्यात्मिक ज्ञान संत रैदास से सीखा। यही मीरा के गुरु थे। 'मीरा ने गोविंद मिल्या जी गुरु मिलिया रैदास' कह कर मीरा ने अपने गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा किया है।

मीरा की मृत्यु सं० १६०३ में द्वारिका में हुई। इनके बनाए हुए चार ग्रंथ मिलते हैं—गीतगोविन्द की टीका, नरसी जी का माहरा, रागगोविंद, रागसोरठ के पद।

भाषा तथा शैली

कबीरदास की भांति मीराबाई ने भी किसी साहित्यिक प्रेरणा के वशीभूत होकर काव्य-रचना नहीं की। इन्होंने केवल भक्ति के आवेश में अपने हृदयोद्गारों को उच्छ्वासित किया है। अपने गिरधरगोपाल के प्रति उनकी अनन्य भक्ति थी और उन्हीं का गुणगान वे गीतों में किया करती थीं। इसलिये मीरा के पदों में साहित्यिक विशेषता ढूंढना व्यर्थ है। उनमें तो केवल माधुर्य और प्रेम की अखंड ज्योति पायी जाती है। मीरा को साहित्य-शास्त्र का कोई विशेष ज्ञान नहीं था। इन्होंने अपने पदों को राग-रागिनियों में गाया है। मीरा की भाषा में राजस्थानी का बाहुल्य है क्योंकि

इनकी जन्मभूमि राजस्थान थी और वहीं की लोक भाषा में इन्होंने अपने हृदयोद्गारों को व्यक्त किया है। यथा:—

मैं जाणयो नाहीं प्रभु को मिलन कैसे होइ री।
आये मेरे साजना, फिरि गये अंगना, मै अभागण रही सोइ री॥
फारूँगी चीर, करूँगल कंथा, रहूँगी वैरागण होइ री।
चुरिया फोरुँ, माँग बखेरुँ, कजरा मै डारुँ धोइ री॥
निसि वासर मोंहि विरह सतावे, कल न परत पल मोइ री।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, मिलि विछुरो मत कोइ री॥

राजस्थानी के अतिरिक्त मीरा के काव्य मे व्रजभाषा का आधिक्य पाया जाता है। मीरा के समय मे व्रजभाषा का बोलवाला था। व्रजभाषा ही उस समय की प्रधान भाषा थी। उस समय जितने काव्य लिखे जाते थे सभी व्रजभाषा मे। भक्ति-काव्यों के लिए तो एक प्रकार से व्रजभाषा ही प्रधान भाषा थी। अस्तु मीराबाई ने व्रजभाषा का उपयोग किया और पूर्ण कुशलता के साथ! मीरा के व्रजभाषा का माधुर्य उस समय के कुशल कवियों से कुछ भी न्यून्य नहीं है। उदाहरण के लिए इस पद को देखिए —

बसो मेरे नैनन मे नंदलाल।
मोहन मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने रसाल॥
मोर मुकुट, मकराकृत कुण्डल, अरुन तिलक दिए भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर वैजन्ती माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट राजति नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त वछल गोपाल॥

मीरा के पदों में माधुर्य और सरसता कूट कूटकर भरी हुई है और इसका कारण यह है कि मीरा के पद कवियित्री के अन्तस्तल के उच्छ्वास है। कवियित्री ने किसी विशेष विचार को प्रकट करने के लिए भाषा का सहारा नहीं लिया है वरन् उनका पदों मे उसका

दरद की मारी बन बन डोलूं बैद मिल्या नहिं कोई ।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी जब बैद संवलिया होई ॥

वियोग के अनन्तर संयोग होता ही है ।

"जाकर जापर सत्य सनेहू ।
सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ॥"

मीरा के दु:ख की भी सीमा है । वह गोपाल जिसके लिए उन्होंने सब कुछ त्याग दिया है, जिसके प्रेम में वे दीवानी हैं, कब तक निष्ठुर बना रहेगा । मीरा के भी दिन पलटते हैं । 'हरि आवन की आवाज' उन्हें सुनाई पड़ती है और शीघ्र ही मीरा के प्रभु हरि अविनाशी मिलेंगे । अन्त में मीरा को यह कहने का अवसर मिल जाता है कि—

सहेलियाँ साजन घर आया हो ।
बहुत दिना की जोवती विरहणि पिव पाया हो ॥

यह है संक्षेप में मीरा की भक्ति-भावना ।

मीरा के पदों में मार्मिकता, भावुकता और माधुर्य भरा हुआ है । लोग अब भी बड़ी तन्मयता से मीरा के पदों का गान करते हैं ।

महाकवि केशवदास

महाकवि केशवदास ने 'कविप्रिया' में अपने कुल का परिचय मात्र दिया है। इनका जन्म संवत् 'मिश्रवंधु' १६०८, रामचन्द्र शुक्ल १६१२ तथा रामचन्द्र वर्मा ने १५६४ माना है। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पं० काशीनाथ था। ओड़छा या उसके आस-पास किसी गॉव में इनका जन्म हुआ था। ओड़छा-नरेश राजा रामसिह के भाई इन्द्रजीत की सभा में केशवदास राजकवि थे। इन्होंने ओड़छा तथा इन्द्रजीत की भूरि-भूरि प्रशंसा किया है। अपने काव्य में इन्होंने ब्राह्मणों की तथा विशेषकर सनाढ्यों की बड़ी ही महिमा गायी है:—

सनाढ्य जाति सर्वदा। यथा पुनीत नर्मदा।

केशवदास के कुल मे सभी लोग पूर्ण विद्वान थे। इनके पूर्वजो में किसी ने 'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनके पिता ने 'शीघ्रबोध' नामक ग्रन्थ बनाया था। संस्कृत-साहित्य तथा ज्योतिष-शास्त्र मे इनके पूर्वज अद्वितीय पंडित थे। इसलिये तुलसी की भॉति केशव को भी 'भाषा' में ग्रन्थ-रचना करने में कुछ हिचक-सी मालूम होती थी, जैसा कि ये स्वयं स्वीकार करते हैं:—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति, सठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकास॥
भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मंदमति तेहि कुल केशवदास॥

ओड़छे का प्रबन्ध-भार इन्द्रजीतसिंह पर था जो केशव को गुरु-वत मानते थे। इन्द्रजीत के अखाड़े में बहुत-सी वेश्याएँ रहती थीं। रायप्रवीन नामक वेश्या इन्द्रजीत की प्रिया थी। वह बड़ी ही चतुर तथा धर्मव्रती थी। केशव उसे काव्य-शिक्षा भी देते थे। उसके लिए उन्होंने कविप्रिया लिखी थी। केशव ने 'रमा कि राय प्रवीन' कहकर उस वेश्या की उपमा रमा तथा शारदा से दी है। एक बार दिल्लीश्वर अकबर ने रायप्रवीन को अपने दरबार में बुला भेजा। इन्द्रजीत ने उसे वहाँ भेजना स्वीकार न किया। इस पर अकबर ने इन्द्रजीत को एक लाख रुपये का दण्ड दिया। केशवदास दिल्ली गए। बीरबल द्वारा उन्होंने इस दण्ड की क्षमा-प्राप्ति की। केशव ने कविप्रिया में बीरबल की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने यहाँ तक कह डाला है कि "दै करतापन आपन ताहि दियो करतार दुओ करतारा।" केशवदास को कविता से जितना धन प्राप्त हुआ उतना हिन्दी के बहुत कम कवियों को मिला। ये राज-दरबार में बड़े ही ठाट से रहते थे।

अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर दिल्ली का सम्राट् हो गया। इस समय ओड़छे का राज्य रामसिंह के हाथ से वीरसिंह के हाथ में चला गया। केशव वीरसिंह के राजकवि हुए। वीरसिंह की प्रशंसा में 'वीरसिंहदेव चरित' तथा जहाँगीर के गौरव-गान में 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' बनाया।

केशव बड़े ही रसिक जीव थे। एक बार अपनी वृद्धावस्था में ये किसी कुएँ पर बैठे हुए थे। पानी भरने के लिए आई हुई युवतियाँ इनको देखकर हँसने लगीं। इस पर केशव ने यह पद बनाया:—

केशव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि कहि जाहिं॥

केशवदास लोभी जीव नहीं थे। इन्हें मान अधिक प्रिय था। इन्द्रजीत की प्रशंसा इन्होंने धन-प्राप्ति नहीं वरन् मान-प्राप्ति के कारण की है। और इसी सम्मान-प्राप्ति के कारण ही इन्होंने राजा बीरबल का इतना गौरव-गान किया हैं। इन्होंने लिखा है कि:—

"ह्वै गयो रंक ते राउ तही जब बीरबली बलबीर निहारयो।"

सीमांत-प्रदेश में युद्ध-भूमि मे जब बीरबल की मृत्यु हुई तब केशव ने उनके पञ्चत्व पर प्रभूत अश्रुवृष्टि किया।

'रामचन्द्रिका' केशव की परमोत्कृष्ट रचना है। जैसा कि इस ग्रथ के नाम ही से विदित हो जाता है, यह एक प्रबन्ध काव्य है। इसमें इन्होंने अपने इष्टदेव रामचन्द्र के चरित्र का वर्णन किया है। 'कविप्रिया' एक काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ है। इसे पढ़कर बहुत से नवसिखुए कवि कविता करना सीख सकते हैं। इसमे इन्होंने बीरबल अमरसिंह तथा देवताओं के दान का वर्णन किया है। रसिकप्रिया में नवरसों की मीमांसा की गई है। इनके अन्य ग्रन्थ 'वीरदेवसिंह-चरित', जहाँगीर-जस-चन्द्रिका', 'विज्ञानगीता', तथा 'रतन-बावनी' है।

केशव का देहावसान संवत् १६७४ में हुआ।

भाषा तथा शैली—

केशवदास को 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है। इनके भाव तथा भाषा दोनों गम्भीर है। इनकी भाषा 'ब्रजभाषा' है लेकिन उसमें इतने माधुर्य का समावेश नहीं हो पाया है जितनी कि ब्रजभाषा के श्रेष्ठतम कवियों में पाया जाता है। सूर, देव, बिहारी और मतिराम आदि के काव्यों में माधुर्य कूट-कूट कर भरा हुआ है। केशव की भाषा में भी माधुर्य है, लेकिन उतनी मात्रा मे नहीं है। यथ —

घात कीन्ह राजतात गात तैं कि पूजियो।
कौन शत्रु तू हृयो जु नाम शत्रुहा लियो॥
रोष करि बाण बहु भाँति लव छंडियो।
एक ध्वज सूत युग तीन रथ खंडियो॥
शस्त्र दशरथ-सुत अस्त्र कर जो धरै।
ताहि सिय पुत्र तिल तूल सम संहरै॥

नीचे बिहारी और केशव की भाषा के नमूने दिए जाते हैं।

मत्त दंति अमत्त ह्वै गये देखि देखि न गज्जहीं।
ठौर ठौर सुदेस केशव दुन्दुभी नहिं बज्जहीं॥
डारि डारि हथ्यारि सूरहिं जीव लै लै भज्जहीं।
काटि कै तनत्रान एकहिं नारि बेपन सज्जहीं॥

(केशव)

सोनजुही सी जगमगै, अँग अँग जोवन जोति।
सुरँग कुसुंभी कंचुकी, दुरँग देह दुति होति॥
चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानो सुर-सरिता विमल, जल उछलत युग मीन॥

(बिहारी)

लेकिन यह बात नहीं है कि केशव की भाषा सर्वत्र ही रूखी-सूखी है। 'ब्रजभाषा' होने के कारण उसमें स्वाभाविक माधुर्य तो है ही, लेकिन केशव ने उसे अधिकांश में अपने पाण्डित्य से बहुत ही सुन्दर तथा सुघड़ बना दिया है। यथाः—

सोभित मंचन की अवली गजदंत मयी छबि उज्जल छाई।
ईस मनो बसुधा में सुधारि सुधाधर मण्डल मंडि जोन्हाई॥
तामहँ केसवदास बिराजत राजकुमार सबै सुखदाई।
देवन सों जनु देव सभा सुभ सीय स्वयंवर देखन आई॥

केशवदास की भाषा साहित्यिक है। इसमें प्रान्तीय अथवा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग बिल्कुल नहीं हुआ है। हाँ, कहीं-कहीं पर बुन्देलखण्डी शब्द आगये है। केशवदास का पूर्ण कुल, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृतज्ञ था। स्वयं केशवदास संस्कृत के गम्भीर विद्वान थे। इनके यहाँ नौकर-चाकर तक संस्कृत का प्रयोग करते थे। यही कारण है कि इनकी भाषा स्वभावत. संस्कृत-बहुला तथा क्लिष्ट है। कहीं कहीं पर तो इन्होंने संस्कृत के प्राचीन काव्यों से पूरे का पूरा वाक्यॉश उठा कर अपने पदों में मिला लिया है। इन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग अधिक मात्रा में किया है। इसलिए भाषा कई स्थलों पर नीरस तथा दुरूह हो उठी है। 'भज्जही' गज्जही, सज्जही इत्यादि अनेक संयुक्त वर्णों के प्रयोग से भी भाषा का माधुर्य मिट गया है और वह कर्ण-कटु तथा अप्रिय हो गयी है। उस समय यवन-शासन के प्रभाव से तथा यवन-संसर्ग से कुछ चलते-पुरजे अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग हिन्दी मे आ ही गया था। केशव ने भी फौज, हथियार इत्यादि शब्दों को अपनी भाषा में उपयुक्त किया है। शब्दो का अंग-भंग भी इन्होने ब्रजभाषा के और कवियों सा किया है लेकिन वह प्रचुर मात्रा मे नहीं। अकारान्त शब्द का आकारान्त तथा इकारान्त का ईकारान्त कर देना इनके बाएँ हाथ का खेल था। यथा:—

जिनके पुरिषा भुवि गगहि लाए।'

कुछ दोषों के होते हुए भी केशवदास की भाषा साहित्यिक, रोचक तथा मधुर है। कहीं-कहीं पर इसमें प्रसाद तथा माधुर्य गुणों की अधिकता है लेकिन अधिकतर यह ओज-पूर्ण है। वाक्य-रचना व्यवस्थित तथा सुगठित है। वाक्य-विन्यास में शैथिल्य नहीं आने पाया है।

केशवदास के 'कथनोपकथन' की शैली हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है। यह बड़ी ही पुष्ट तथा रोचक है। लेकिन कहीं-कहीं यह जानना कि कौन श्रोता तथा कौन वक्ता है, कष्टसाध्य हो जाता है। परशुराम और रामचन्द्र के संवाद में यदि पाठक सतर्कता से काम न लें तो भ्रम में पड़ जायें।

केशवदास छंदों का परिवर्तन बड़ी ही शीघ्रता से करते हैं। यदि दो पंक्तियाँ दोहे की हैं तो दो पंक्तिया नाराच छन्द की तो फिर दो पंक्तियाँ अन्य किसी छन्द की। इस छन्द-परिवर्तन-शीलता से कथा-सूत्र की गति तो अवश्य बढ़ जाती है लेकिन पाठक को थोड़ी सी असुविधा का अनुभव करना पड़ता है जो कहीं-कहीं पर बहुत ही अप्रिय हो जाता है।

केशवदास रीति-काव्य के आचार्य हैं। यद्यपि रीति काव्यकारों ने सम्पूर्णतया इनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण नहीं किया, परन्तु रीति-काव्य की प्रणाली के निर्माता केशव ही कहे जाते हैं।

'कविप्रिया' तथा 'रसिक-प्रिया' केशव के साहित्य-शास्त्र की मर्मज्ञता के द्योतक हैं। केशव छन्द-शास्त्र के पूर्ण-पण्डित थे। इन्होंने बहुत से नये छन्दों का निर्माण भी किया है। इन्होंने अलंकारों की विशद-व्याख्या की है। षटऋतु आदि का भी वर्णन किया है।

यही कारण है कि केशव अपने काव्यों में छन्दों का परिवर्तन बड़ी ही शीघ्रता से करते हैं। ये भाव-व्यंजना में उतने तल्लीन नहीं दिखलाई पड़ते, जितना कि छन्द-शास्त्र-पाण्डित्य-प्रदर्शन में। अलंकारों के प्रयोग की दशा भी यही है। इतने अलंकारों का प्रयोग केशव ने किया है कि पाठक को भाव के बदले शब्द-चमत्कार ही दिखलाई पड़ने लगता है। केशवदास में भावुकता की न्यूनता है। ये शब्द-कौशल तथा अलंकार-वैदिग्ध्य के प्रदर्शन की ओर अधिक उन्मुख रहते हैं। यथा:-

मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय ।
होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय ॥
दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही मैं ।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी मैं ॥

इन्हे अलंकारो में उत्प्रेक्षा, श्लेष तथा संदेह और परिसंख्या अधिक प्रिय थे। इन्होंने कही-कही उत्प्रेक्षा की इतनी अतिशयोक्ति करदी है कि नीरस तथा अप्रिय उपमानों का ढेर-सा एकत्रित कर दिया है। ऐसे स्थलो पर शब्दसाम्य की शरण लेकर इन्होंने भाषा की उपयुक्तता को मटियामेट कर दिया है। लेकिन इन सब दोषों का प्रादुर्भाव पाण्डित्य दिखलाने की उत्कट लालसा से ही हुआ है। वैसे सम्यक् रूप से विचार करने से केशवदास की शैली प्रौढ़ तथा गम्भीर है। इनकी शैली के आवरण में इनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। इनके विषय मे 'Style is the man' का कथन सम्पूर्णतया लागू होता है। इनके काव्य में सत्काव्य के सभी लक्षण पाये जाते है। कही-कही इनकी कल्पना बड़ी ही तीव्र है। कई स्थलो पर भाव इतने गम्भीर है कि उनको समझ लेने पर पाठक केशवदास की प्रशंसा किए विना नही रह सकता। बहुत से छन्दो के दो-दो और तीन-तीन अर्थ निकलते है। केशवदास निःसन्देह-हिन्दी साहित्य मे सूर और तुलसी के अतिरिक्त अन्य सभी कवियो से ऊँचे है। 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' नामक प्रसिद्ध छन्द कम से कम केशवदास के पक्ष में अक्षरश: सत्य है।

केशव के काव्य की अन्तरात्मा:—

उत्कट-भक्ति से अभिभूत होकर के केशवदास ने रामचन्द्रिका की रचना नही की थी। तुलसी की भाँति इनके भी इष्टदेव वही

अवधपति श्रीरामचन्द्र हैं लेकिन केशव में भक्ति की वह तीव्रता नहीं है जो तुलसी में है। तुलसी के रोम-रोम में राम का वास है, केशव को बरबस राम का स्मरण करना पड़ता है। तुलसी ने 'स्वान्त:सुखाय' रामचरितमानस की रचना की थी। केशव को 'वाल्मीकि मुनि स्वप्न मँह दीनो दर्शन चारु' और इसके अनन्तर मुनिवर के आदेश से 'केशवदास तहीं कयो रामचन्द्र जू इष्ट'। केशवदास ने रामचन्द्र जी को अपना इष्टदेव बनाया तो परन्तु इन्होंने अपने इष्टदेव के सामने अपने हृदय को खोलकर कहीं नहीं रक्खा है। भक्ति की यह शिथिलता कहीं-कहीं इतनी बढ़ गई है कि भक्त अपने इष्टदेव का वर्णन न केवल शृंगार-पूर्ण, वरन अश्लील शब्दों में करने लगता है:—

मग को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय को, शुभ बाकल अंचल सों।
श्रम तेउ हरैं तिनको कहि केशव चंचल चारु दृगंचल सों॥

एक सच्चा भक्त अपने इष्टदेव का ऐसा चित्र कभी भी चित्रित नहीं करेगा। इसी भक्ति-शैथिल्य ने केशवदास से रामचन्द्र की उपमा ठग और चोर तक से दिलवा दी है।

केशवदास राज-दरबार में राजसी ठाट से रहते थे। इसलिए राजसी वर्णनों में इन्होंने अच्छा कौशल दिखलाया है। राज-दरबार, धनागार, सुगंधशाला केलि-भूमि, विहार-वाटिका इत्यादि का वर्णन केशव ने बड़ी ही सफलता से किया है। केशव के काव्य में भावुकता की कमी पाई जाती है। और कवियों में, जिनका कि स्थान हिन्दी-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है, यह बात पाई जाती है कि हँसी के अवसर पर वे स्वयं हँसते हैं और दुःख के अवसर पर दुखी होते हैं। वे अपने वर्णित भावों से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। रामचन्द्र जी के साथ वन जाती हुई श्रमाकुला सीता का तुलसी ने कैसा सुन्दर वर्णन किया है:—

पुर ते निकसी रघुवीर-वधू धरि धीर दियो मग में डग द्वै।
थिथकी भरि भाल कनी झलकी पट सूखि गयो अधराधर द्वै॥
पुनि पूँछति है चलनो वा कितो पिय पर्णकुटी करिहो कित ह्वै।
तियकी सुनि आतुरता पियकी अखियाँ अति चारु चल्यो जलच्वै॥

उपर्युक्त छन्द में कवि भावुक हो उठा है और रामचन्द्र के साथ साथ उसकी भी आँखों से दो बूँद आँसू चू पड़े है। लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह भावुकता, जो कि कवित्व का प्राण है, केशवदास में नही पायी जाती है। केशवदास मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान ही नही सकते थे।

केशवदास ने ब्राह्मणों की बड़ी ही महिमा गाई है। कुछ समालोचको की राय में जात्याभिमान को काव्य में स्थान देना एक दोष है। लेकिन प्राचीन परम्परा के वशीभूत होकर उस समय के कुछ कवि ब्राह्मणों का महत्व गा ही बैठते थे। यह बात अवश्य है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मण जाति उतनी आदरणीय नही रही होगी जैसा कि वह हिन्दू-शासन काल मे थी। लेकिन फिर भी रूढ़ि के वशीभूत होकर अथवा जन्म-जात-संस्कार के प्रभाव से केशव ने अपने जाति का, और विशेषकर अपने गोत्र का, गौरव-गान यों किया है:—

सनाढ्य जाति सर्वदा, यथा पुनीत नर्मदा।
सनाढ्य वृत्ति जो हरै, सदा समूल सो जरै॥

यह तुलसीदास के 'पूजिय विप्र सकल गुन-हीना' और 'जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा' से कम नहीं है। केशवदास ने एक ओर तो ब्राह्मणों का इतना गौरव-गान किया है लेकिन दूसरी ओर तीर्थस्थानो को उन्होंने उतना महत्व-पूर्ण नही माना है, जितना कि रूढ़ियों के वश उन्हे मानना चाहिए था। गोदावरी का वर्णन करते समय उन्होंने कहा है कि:—

रीति मनो अविवेक की थापी।
साधुन की गति पावत पापी॥

उपर्युक्त पद पर विचार कीजिए। क्या यह समुचित है कि एक कवि जो ब्राह्मणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और वर्णाश्रम-व्यवस्था की दुहाई देता है, पुण्योदका गोदावरी के लिए ऐसी भावना को व्यक्त करे? इस प्रकार का भाववैषम्य रामचन्द्रिका में बहुत ही स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। दशरथ की वाटिका में विचित्र भाववैषम्य देखिए—

देखी बनवारी चंचल भारी तदपि तपोधन मानी।
अति तपमय लेखी गृहथित पेखी जगत दिगंबर जानी॥
जग जदपि दिगंबर पुष्पवती नर निरखि निरखि मन मोहैं।
पुनि पुष्पवती तन अति अति पावन गर्भ सहित सब सोहैं॥

केशवदास के संवादों की उत्तमता की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है। यदि इन संवादों की बागडोर पाठक के हाथ से छूटने न पाये तो उसे बड़ा ही आनन्द मिलेगा। उनमें चुलबुलाहट और तीव्रता है। छन्द के जाल में संवादों को बन्द करना एक दुष्कर कार्य है। अनेक शब्द संवाद में ऐसे होते हैं जिनको बड़ी ही कठिनता से पद-पंक्ति में बिठाया जा सकता है। फिर कथन और उपकथन में स्वाभाविक गति का क्रम बनाये रखना और भी दुष्कर है। साथ ही साथ वाक्य भी नपे और तुले हुये होने चाहिए। भरती के शब्द साधारणतया कविता में उपयुक्त किये ही जाते हैं लेकिन संवादों में उनके लिए जरा भी स्थान नहीं है। केशवदास के संवादों का प्रधान गुण उनकी स्वाभाविकता है। लक्ष्मण और परशुराम, बाणासुर और रावण तथा शत्रुघ्न और लव के संवादों में केशव ने कथोपकथन की शैली को बड़ी ही सुन्दरता से निबाहा है। केशव के संवादों में

केवल एक दोष है और वह यह है कि इन्होंने संवादो को आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिया है। संवाद हो, अथवा कोई भी किसी प्रकार का वर्णन हो, कथा-वस्तु में उसका समावेश केवल इसलिए होता है कि उससे कथासूत्र की वृद्धि हो। केशव के संवादों मे यह दोष है कि वे कथासूत्र की वृद्धि में सहायक न होकर ग्रन्थ के भीतर एक दूसरी ही उप-कथा से प्रतीत होते है।

महाकवि बिहारीलाल

परिचय—

महाकवि बिहारीलाल का जन्म संवत् १६६० के लगभग ग्वालियर के निकट बसुआगोविन्दपुर में माना जाता है। बिहारी ने अपने एकमात्र ग्रन्थ 'सतसई' में अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है; उन्होंने 'सतसई' के समाप्त होने की तिथि (संवत १७१९) दी है और अपने विषय में केवल एक ही दोहा दिया है। वह यह है:--

> जन्म भयो द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आय।
> मेरे हरौ कलेश सब, केशव, केशवराय॥

बिहारी के विषय में यह दोहा भी प्रसिद्ध है:--

> जन्म ग्वालियर जानिये, खण्ड बुन्देले बाल।
> तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

ये माथुर ब्राह्मण थे और कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र थे। परन्तु यह मत ठीक नहीं जँचता। इनका बचपन बुन्देलखण्ड में बीता और युवावस्था में अपनी ससुराल मथुरा में आ बसे थ। बिहारी जयपुर के साहित्य-प्रिय महाराज जयसिंह के यहाँ रहते थे। कहा जाता है कि एक बार किसी अज्ञात-यौवना युवती के प्रेम में महाराजा इस प्रकार लिप्त हो गए कि राजकार्य से बिल्कुल तटस्थ हो गये। किसी भी मंत्री या कर्मचारी को महाराजा को इस कुव्यसन से जगाने का साहस नहीं होता था। राज्य-प्रबन्ध में रुकावट तथा प्रजा को कष्ट होने लगा। उस समय बिहारीलाल ने कागज की नाव में एक दोहा

रखकर, महल की नाली को उलटा बँधवाकर महाराज के पास भेजा। वह प्रसिद्ध दोहा यह है:—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों विध्यो, आगे कौन हवाल॥

दोहा पढ़कर महाराज की सुख-निद्रा टूट गयी और भ्रम दूर हो गया। उन्होंने प्रसन्न होकर सुकवि को एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा का पुरस्कार दिया और उन्हे अपना राजकवि बनाया। काव्य-प्रतिभा के अतिरिक्त बिहारी में दरबारी कवि होने के सब गुण भी थे। इन्होने महाराज जयसिह की प्रशंसा मे कई दोहे बनाये है और उन्हे अपनी सतसई में स्थान दिया है। बिहारी का देहावसान संवत् १७२० में माना जाता है।

सतसई—

सतसई में केवल ७१९ दोहे है। कुछ दोहे तो सतसई की प्रशंसा मे है। मालूम होता है कि ये दोहे किसी अन्य कवि द्वारा सतसई मे जोड़ दिये गए है। बिहारी ने केवल सात-सौ दोहे बनाये होंगे। परन्तु इन ७०० दोहों ने बिहारी को हिन्दी-साहित्य में सदा के लिए अमर कर दिया है। जितना यश इतनी कम रचना करके बिहारी को मिला है उतना हिन्दी साहित्य क्या ससार के किसी भी साहित्य में किसी भी कवि को नही मिला है। सतसई की अब तक पचासों टीकाएँ निकल चुकी है और कई भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। टीकाकार भी साधारण मनुष्य नही परन्तु सिद्धहस्त तथा लब्ध-प्रतिष्ठ कवि और लेखक है परन्तु सतसई का अर्थ-गाम्भीर्य तथा भाव-विशदता ज्यों की त्यों बनी है। ठीक है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत को छोटे लगैं, भाव करैं गंभीर॥

भाषा तथा शैली—

बिहारी ने ब्रजभाषा में कविता की है। इनके समय में ब्रजभाषा की धूम थी। उनकी भाषा चलतू होने के साथ-साथ साहित्यिक भी है। यह गुण बहुत कम कवियों में पाया जाता है। निम्नाङ्कित दोहों की भाषा कितनी व्यवहारिक है:—

> अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठि पट जोति।
> हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुष छवि होति॥

कैसी साहित्यिक है:—

> जदपि सुन्दर सुघर पुनि, सगुनौ दीपक देह।
> तऊ प्रकाश करै तितो, भरिये जितो सनेह॥

बिहारी ने ब्रजभाषा के अन्य कवियों की भाँति केवल पद-मैत्री या प्रसंगवश ऐसे शब्दों को अपनी भाषा में स्थान नहीं दिया है जो उसे अनगढ़ और अव्यवस्थित बना देते। इन्होंने कहीं-कहीं पर 'दीखबो', सीखबो आदि बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग किया है। इसलिए कुछ समालोचक इन पर प्रान्तीयता तथा अप्रचलित शब्दों के प्रयोग करने का दोषारोपण करते हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि भाव-व्यंजना के लिये कवि को शब्द-चयन में कुछ न कुछ स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए। भाव ही काव्य का प्राण है। उसको अक्षुण्ण रखने के लिये कवि की लेखनी स्वच्छन्द परिभ्रमण कर सकती है। इन्होंने कहीं-कहीं पर भावों को पूर्ण-तया अभिव्यंजित करने के हेतु अरबी और फारसी के चलते-पुरजे शब्दों को भी ले लिया है। परन्तु उनके प्रयोग से भाषा में और भी चमक आ गयी है। ताकता, इजाफा, गर्दा, मर्दीन, अदब, दाग, फौज, वजीर, पियाला आदि शब्दों का प्रयोग बिहारीलाल

ने अधिकता से किया है। इनकी वाक्य-रचना व्यवस्थित है, परन्तु कही-कही पर व्याकरण की शिथिलता पायी जाती है। कई स्थानो पर इन्होंने असमर्थ शब्दों का प्रयोग कर दिया है। ऐसे शब्द कवि के भावों का प्रकटीकरण भली भॉति नही कर पाते है। व्रजभाषा अत्यन्त लचीली होती है। उसमे कवि शब्दों का जैसा अंग-भंगकर सकता है वैसा खड़ी वोली में नही। इसलिए व्रज-भाषा के कवि आवश्यकतानुसार शब्दों को बहुत ही तोड़ते-मरोड़ते हैं। बिहारी ने भी समर (स्मर), हराहरु (हलाहल), अगिनि (अग्नि), मोख (मोक्ष), द्योस (दिवस) का प्रयोग किया है। शब्दों का विकृत करना कवि के लिये क्षम्य है। परन्तु इनको इस प्रकार विकृत करना कि उनका वास्तविक रूप दिखलायी ही न पड़े कवि की उच्छृङ्खलता है। यह दोप बिहारी में प्रचुर मात्रा में है। क्या संक्रमण के लिये 'संक्रोन' लिखना क्षम्य है? कही-कही विहारी ने अव्यवहारिक शब्दों का प्रयोग कर दिया है। रहचट, हई, कैवा, चुपरी, पिछान का प्रयोग हिन्दी साहित्य में बहुत कम पाया जाता है। चोरटी, गोरटी और जतुकु तो बहुत कम दिखलायी पड़ते है।

कुछ दोषों के होते हुये भी बिहारी की भाषा ललित तथा चमत्कार-पूर्ण है। उसमें प्रसाद तथा लालित्य प्रभूत मात्रा में पाये जाते है। इनकी उक्तियों में विशेष चमत्कार है। भावगम्भीर्य, महाकवि भारवि को छोड़कर, अन्य किसी भी कवि में उतना नही पाया जाता, जितना कि बिहारी मे। इन्होंने केवल दोहो की रचना की है। इनके दोहे काव्य-कला के उत्कृष्ट नमूने है। इन्होने दोहों का ऐसा उत्तम प्रयोग किया है कि इनके अनन्तर यह छन्द दूसरे कवियों के लिये केवल जूठन मात्र ही रह गया। बिहारी ने अपने दोहों में गागर में सागर भर दिया है।

विषय—

रीति-काल की प्रथा के अनुसार विहारी की सतसई एक लक्षण-ग्रंथ है। इसमें नखशिख, षटऋतु तथा नायिकाभेद आदि सभी का वर्णन है। यह एक मुक्तक काव्य है। कोई भी दोहा किसी दूसरे दोहे पर अवलम्बित नहीं है। विहारी एक शृंगारी कवि हैं। सतसई के अधिकतर दोहे शृंगार-रस के हैं। कुछ दोहे नीति तथा नैत्यिक व्यवहारिकता पर भी हैं। इन्होंने रस-व्यंजना बड़ी ही कुशलता के साथ किया है। जैसे:—

बतरस लालच लाल के, मुरली धरै लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हसैं, दैन कहै, नटि जाय॥

भाव-व्यंजना भी विहारी ने बड़ी ही चतुरता से किया है। नायक और नायिकाओं के वर्णन में इन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। इनकी नायिकायें इतनी सुकुमार हैं कि 'छाला परिवे के डरन' गुलाब के कोमल पत्ते को छूने मे झिझकती हैं और 'शोभा हू के भार' सीधे पैर नहीं रख पाती हैं। अतिशयोक्ति की इन्होंने हद कर दिया है:—

भई जु तन छवि बसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन।
अंग-ओप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न॥

विहारी ने उत्प्रेक्षाएँ भी बड़ी ही दूर की हैं:—

छप्यो छबीली मुख लसै, नीले अंचल चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिन्दी के नीर॥

इनका निरीक्षण बहुत ही सूक्ष्म है तथा कल्पनाएं क्लिष्ट। कहीं-कहीं तो बिना रूढ़ि की सहायता के अर्थ समझना कठिन हो जाता है। इनका व्यंग चित्ताकर्षक होता है और उसके समझ लेने से हृदय में एक विशेष प्रकार का आह्लाद होता है:—

पलनि प्रगटि बरुनीन बढ़ि, नहिं कपोल ठहराय ।
अँसुवाँ परि छतियाँ छतक, छनछनाय छिपि जायँ ॥

अलंकारों के प्रयोग मे बिहारी एक सिद्धहस्त कवि है। यमक और श्लेष का प्रयोग इन्होंने बड़ी ही उत्तमता से किया है। बिहारी ने मानव हृदय-चित्रण परम कुशलता से किया है। ऐसे स्थलों पर छन्द-भाव-प्रधान न होकर वस्तु-व्यंजन-प्रधान हो गया है:—

चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानो सुर-सरिता-विमल, जल उछलत युग मीन॥
छकि रसाल सौरभ सने, मधुर-माधुरी-गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झँपत, भौंर-झौर मधु-अंध॥

बिहारी ने अन्योक्तियों में भी अपना कौशल खूब दिखलाया है:—

को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरग अकुलात।
ज्यो-ज्यो सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यो उरभत जात॥

कविवर भूषण त्रिपाठी

परिचय:—

महाकवि भूषण त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म कानपुर के निकट तिकँवापुर ग्राम में संवत् १६७० में हुआ था। इनके पिता का नाम रत्नाकर था। भूषण के परिवार के सभी लोग पढ़े-लिखे तथा विद्वान थे। इनके और तीन भाई महाकवि मतिराम, कविवर चिन्तामणि तथा सुकवि जयशंकर थे। ऐसे सुपरिवार में जन्म लेकर भी भूषण २० वर्ष की अवस्था तक निरक्षर भट्ट रहे। एक दिन भोजन करते समय इन्होंने नमक माँगा। इस पर इनकी भावज ने कोई व्यंग पूर्ण वाक्य कह दिया। उसका प्रभाव भूषण पर अत्यधिक पड़ा। इन्होंने घर छोड़ दिया और बाहर जाकर विद्याध्ययन में अधिक परिश्रम किया। 'भूषण' का वास्तविक नाम कुछ और है; यह केवल इनका उपनाम है। संवत् १७२३ में भूषण चित्रकूट के राजा रुद्रराम सोलंकी के यहाँ गये। रुद्रराम ने इनके काव्य-कौशल पर प्रसन्न होकर इन्हें भूषण की उपाधि दी। वहाँ से १७२४ के अंत में भूषण महाराज शिवाजी के यहाँ गये। वहाँ उनका खूब आदर-सम्मान हुआ। कहा जाता है कि शिवाजी से इनकी भेंट राज-प्रासाद से बाहर किसी मन्दिर में हुई। इन्होंने शिवाजी को न पहचान कर स्वयं उन्हीं से शिवाजी के विषय में कुछ पूछ ताँछ किया तथा उनकी प्रशंसा में कुछ पद्य सुनाया। प्रसन्न होकर शिवाजी ने इन्हें अपना राजकवि बना लिया और धन तथा मान से खूब सम्मानित किया। इस समय भूषण ने व्यंग का बदला चुकाने के लिए अपनी भावज के पास एक लाख मन नमक भेजा था।

भूषण मान-प्रिय कवि थे। धन की अपेक्षा इन्हें मान अधिक प्रिय था। शिवाजी के अतिरिक्त ये कुछ दिन छत्रसाल बुन्देले के यहाँ भी रहे। विशेष धन न पाने पर भी इन्होंने छत्रसाल की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कारण यह है कि जाते समय छत्रसाल ने इनकी पालकी का डण्डा अपने कंधे पर रख लिया था। भूषण पालकी से कूद पडे और महाराज के गले लिपट गये। भूषण कुमायूँ के राजा के यहाँ भी गए थे। वहाँ के राजा ने प्रसन्न होकर इनके एक छन्द पर इन्हे बहुत-सा धन देना चाहा परन्तु विशेष सम्मान न पाने के कारण भूषण ने उस धन को स्वीकार न किया।

ग्रन्थः—

भूषण ने अपने काव्य का चरित्र-नायक महाराज शिवाजी को बनाया है। इनकी परम प्रसिद्ध रचना 'शिवराज भूषण' शिवाजी की प्रशसा मे एक लक्षण-ग्रंथ है। 'छत्रसाल दशक' में २ दोहे और ८ छन्द छत्रसाल की प्रशंसा मे है। 'शिवा-बावनी' ५२ छन्दों का ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त 'भूषण हजारा' 'भूषण उल्लास' और 'दूषण उल्लास' भी भूषण के ग्रंथ बताये जाते है; परन्तु इनका ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं लगा है।

भूषण की मृत्यु संवत् १७७२ में हुई।

भाषा तथा शैलीः—

भूषण ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। वीररस-प्रधान होने के कारण इनकी भाषा उतनी कोमल तथा सुकुमार नहीं है, जितनी कि ब्रजभाषा के अन्य कवियों की है। कारण यह है कि ललित-पदावली उद्दण्ड तथा बर्बर भावों का सम्पादन समर्थता के साथ नहीं कर सकती है। विविधि प्रकार भावो को तद्रूप आवरण में

सजाना ही चतुर कवि का काम होता है। इसलिये भूषण की भाषा भी ओजमयी तथा उद्दण्ड है। उदाहरण के लिये इस छन्द को देखिए :—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाहे करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति,
फिरति फिरंगिनि की नारी फिरकति है॥
थर थर काँपत कुतुबशाह गोलकुंडा,
हहरि हबसि भूप-भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती दरकति है॥

परन्तु प्रसंगवश भूषण ने कोमल पदावली को भी प्रयुक्त किया है। मर्मस्पर्शी स्थलों पर इनकी भाषा स्वभावतः कान्तिमय तथा सुकुमार हो गयी है। शिवाजी के रायगढ़ का वर्णन करते समय भूषण ने परम मनोहारिणी भाषा का प्रयोग किया है:—

मनि मय महल सिवराज के इमि रायगढ़ में राजहीं।
लखि जच्छ किन्नर सुर असुर गन्धर्व हौंसनि साजहीं॥

× × × ×

आनन्द सों सुन्दरिन के कहुँ बदन इंदु उदोत हैं।
नभ-सरित के प्रफुलित कुमुद मुकुलित कमल-कुल होत हैं॥

× × × ×

चंपा-चमेली चारु चंदन चारि हूँ दिसि देखिए।
लवली-लवंग-बगानि केरे लाखहूँ लगि लेखिए॥

उपर्युक्त पदों को देखकर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भूषण का भाषा पर पूर्ण अधिकार था और चढ़ाव-उतार के अनुसार कवि उसे परिवर्तित कर सकता था। भूषण ने अरबी और

फारसी के शब्दों को भी उपयुक्त किया है क्योंकि इनकी उन्हें आवश्यकता थी। मुसलमान पात्रों के संसर्ग में, उनके कथनोपकथन में, उनके व्यवहारिक जीवन-चित्रण में तथा उनके रीति-नीति की अभिव्यंजना मे कवि को आवश्यकतावश वादशाह, खानसामा, वीवी, शाह, फौज, नमाज, रोजा मुशकिल, हजार, दौर, हासिल आदि अनेक शब्दो का प्रयोग करना ही पड़ा। अपभ्रंश शब्दो का भी समावेश भूपण की शब्द-मण्डली में है। वीर रस प्रधान होने के कारण कवि को अपनी शब्दावली मे ऐसे शब्दो को भी स्थान देना पड़ा। साथ ही साथ बुन्देलखण्डी शब्द भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते है। भूपण की भापा यद्यपि ओज-पूर्ण है और उसको पढ़कर हृदय में एक अनूठा उल्लास तथा उमंग आ जाता है परन्तु इनकी वाक्यरचना कहीं-कहीं अव्यव-स्थित है और कहीं-कहीं पर इन्होंने व्याकरण के नियमों का उल्लंघन किया है। शब्दों के विकृत रूप का प्रयोग कहीं-कहीं पर खटकता है। लेकिन ये छोटे-मोटे दोष भाषा के ओज तथा भावों की उद्दण्डता मे इस प्रकार छिप जाते है जैसे कि प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रकाश में छोटे-छोटे वारिद-खण्ड। पढ़ते समय पाठक वीर-भावावेश से इतना अभिभूत हो जाता है कि भावों के कलेवर की ओर उसका ध्यान ही नही जाता। भूपण की गणना हिन्दी साहित्य के महाकवियों में है।

भूषण के काव्य की अन्तरात्मा:—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भूपण वीररस के कवि है। वीररस को भूपण ने इस प्रकार अपना लिया है कि वीररस काव्य में दूसरे कवि के लिए क्षेत्र नि.शेष नही रह गया। वीररस का नाम लेने से वरवश भूषण के नाम का स्मरण हो जाता है और भूषण का नाम लेने से वीररस का। भूषण ने अपने काव्य का

चरित्र-नायक महाराज छत्रपति शिवाजी को बनाया है। वह इसलिए नहीं कि भूषण को उनसे अत्यधिक धन तथा सन्मान प्राप्त हुआ। वरन इसलिए कि शिवाजी में वह गुण थे जो कि एक आदर्श हिन्दू में होना चाहिए। भूषण में जातीयता तथा राष्ट्रीयता कूट-कूटकर भरी है। भूषण ने शिवाजी की भूरि-भूरि प्रशंसा इसलिए किया कि शिवाजी राष्ट्रीयता तथा जातीयता की मूर्ति थे -

> बेद राखे बिदित, पुरान राखे सारयुत,
>
> राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
>
> हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन—
>
> की, काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं॥

उस समय भारतवर्ष के शासनकर्ता यवन थे। हिन्दुओं पर यवनों का घोर अत्याचार होरहा था। हिन्दू-जाति नष्ट हो रही थी। ऐसी अवस्था में शिवाजी ने यवनों का सामना करके तथा हिन्दू-धर्म की तथा हिन्दू-समाज की रक्षा किया और भूषण के आराध्य देव बन गये। यहाँ तक कि भूषण ने शिवाजी को अवतार तक मान लिया है और बार-बार अपने मत का समर्थन किया है। भूषण की जातीयता ही उनके काव्य की प्रेरक है। इसी जातीयता के वश में उन्हों ने अपने काव्य के उपनायक तत्कालीन यवन-सम्राट तथा यवन समाज पर भद्दी कटूक्तियाँ तथा व्यंग किया। इन्होंने यवनों को खूब खरी-खोटी सुनायी है। कुछ समालोचक इन पर जातीयता का दोषारोपण करते हैं परन्तु यदि जरा भी विचार से काम लिया जाय तो यह विदित हो जायगा कि तत्कालीन वातावरण में पले हुए किसी सच्चे हिन्दू के हृदय में यह उद्गार निकलना स्वाभाविक है जो भूषण के हृदय से निकले हैं। भूषण अपने समय के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं।

शिवाजी की युद्ध-कुशलता तथा वीरता के वर्णन मे भूषण ने अनुपम कौशल दिखलाया है। इन्होंने उनके प्रभाव का भी खूब वर्णन किया है। शिवाजी के नगाड़े की ध्वनि से यवन-शत्रुओं की छाती फट जाती है। औरङ्गजेब अपने दक्षिणी सूबों के लिये कोई ऐसा कर्मचारी नही पाता है जो वहाँ जाने को प्रस्तुत हो। तलवार, घोड़ा, सेना, गढ़ आदि के वर्णन में भूषण ने अपने युद्ध-विज्ञान का भली-भाँति परिचय दिया है। कही-कही पर तो इन्होंने अतिशयोक्ति कर दी है। कटूक्तियों में तो ऐसी तीक्ष्णता है कि यदि वे अपने लक्ष्य तक पहुँचतीं तो हृदय मे तीर-सा घाव करती। इन्होंने शिवाजी के शत्रुओं की स्त्रियों की बड़ी ही दयनीय दशा का चित्रण किया है। शिवाजी का कोपप्रहार अपने शत्रुओं ही को नही घालता, वरन् वह उनके पारिवारिक जीवन पर भी वज्रपात करता है। उनकी स्त्रियाँ थर-थर काँपती है, वन-वन विलखती फिरती है और तीन वेर खाने के स्थान पर तीन बेर खाती है—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी, ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कंद-मूल भोग करैं, कंद-मूल भोग करैं, तीन बेर खाती वे तीन बेर खाती हैं॥
भूषन सिथिल अंग, भूखन सिथिल अंग, विजन डुलाती ते वै विजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास, नगन जडाती ते वै नगन जडाती हैं॥

ऊपर बतलाया जा चुका है कि भूषण मे जातीयता और राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी है। इस जातीयता तथा राष्ट्रीयता के लिये उस समय की राजनीतिक परिस्थिति अनुकूल थी। भूषण ने शिवाजी को हिन्दू-जाति का श्रेष्ठतम व्यक्ति, उद्धारक और रक्षक माना है। शिवाजी की विजय उनकी अपनी विजय नही है वरन् वह सारे हिन्दू जाति की विजय है। इसीलिये भूषण ने हिन्दू-जाति को जगाने लिये लेखनी ली और उसके सम्मुख एक ऐसे नेता

को उपस्थित किया, जिसका साथ देकर नष्टप्राय-हिन्दू-जाति फिर से जीवित हो सकती थी। उन्होंने बार-बार कहा—

"आपस की फूट ही तें, सारे हिन्दुवान टूटे।"
"हिन्दुवानि द्रुपदि की इज्जति बचैबे काज॥"
"राजमही सिवराज चली हिन्दुवान बढ़ाइबे के उर जूटे।"
"संगर में सरजा सिवाजी अरि-सैनन को,
सार हरि लेत हिन्दुवान सिर सार दै।"

भूषण में जातीयता की भावना पंक्ति-पंक्ति में व्याप्त है और यही इनकी सर्वप्रधान विशेषता है। कवि ने जिस जाति में जन्म लिया है, उसके उत्थान के प्रयत्न में वह अपनी सारी शक्ति लगा देता है। देशी नरेशों और राजाओं के तलवे चाटनेवाले तत्कालीन सरस्वती के वरद पुत्रों में से किसी का ध्यान अपने देश की दुर्दशा पर नहीं गया। सभी नायिकाओं के चन्द्रमुखों का सुधा-पान करके, उनके स्तन-मार्दल्य का आनन्द लूटकर, उनके नेत्रों से विक्षिप्त होकर, काले-काले केशपाशों में लटके हुए थे।

अपने को भारत की राष्ट्रीयता का संरक्षक समझने वाले कुछ योग्य महानुभावों ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिये भूषण पर जातीयता और साम्प्रदायिकता का दोष लगाया है। ऐसे लोगों का कहना है कि भूषण की रचनाएँ राष्ट्रीयता के भाव से शून्य हैं। उन्होंने मुसलमानों की निन्दा—घोर निन्दा—की और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर कुठाराघात किया। इस आक्षेप का उत्तर देना इस अवसर पर समुचित नहीं जान पड़ता, परन्तु फिर भी इतना कह देना आवश्यक है कि भूषण के काव्य के आलम्बन शिवाजी थे. वे शिवाजी जिन्होंने कि मरहठा जाति का निर्माण किया और जिसने हिन्दू-जाति और भारतराष्ट्र को नष्ट होने से बचाया। शिवाजी ने जातीयता और राष्ट्रीयता का जो

बीज आरोपित किया था, उसके फल-स्वरूप मरहठा-जाति भारतीय राजनीति के तत्कालीन क्षेत्र में अवतरित हुई और उसने प्रायः उस समय सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया तदनन्तर की राष्ट्रीय घटनाएँ हिन्दू-जाति की आशाओं और प्रयत्नों पर कुठाराघात न किये होतीं तो कतरनी की भाँति जीभ चलाने वाले कुछे मनचले समालोचकों को यह दोषारोपण करने का साहस आज न होता। भूषण का प्रयत्न स्तुत्य है और कोई भी उन पर जातीयता का दोष नहीं लगा सकता है।

भूषण की दूसरी विशेषता मौलिकता है। प्रत्येक युग में और प्रत्येक देश में तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रभाव वहाँ के कवियों पर पड़ता है। भक्तिकाल में हिन्दी-साहित्य में हमें भक्त ही भक्त कवि दिखलायी पड़ते हैं। उसी प्रकार रीतिकाल के अन्तर्गत हम सैकड़ों नायक-और-नायिकों पर मर मिटने वाले नख-शिख षष्ठ-ऋतु इत्यादि के आचार्यों को पाते हैं। भूषण का उद्भव रीति काल में हुआ था और उनको भी रीतिबद्ध-ग्रंथ की रचना करनी पड़ी। शिवराजभूषण एक लक्षण-ग्रंथ है, फिर भी उसमें किसी नायिका पीन-पयोधर का अथवा किसी अभिसारिका के मद-भरे नेत्र का वर्णन नहीं है। उन्होंने शृंगार-रस का केवल एक ही या दो छंद बनाया है और उसमें भी हमें वीर-रस का आभास मिलता है। भूषण ने तत्कालीन साहित्यिक-धारा का साथ न देकर अपना एक अलग मार्ग निकाला। उन्होंने एक नई शैली और नई प्रणाली की योजना की। अपने काव्य के चारित्र-नायकत्व के लिए शिवाजी को चुना और देशी राजा तथा नरेशों और रसिक जनता के मनोरजन के लिये सरस्वती का आह्वान न करके लोक-कल्याण की भावना से अपनी लेखनी चलायी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म तथा वंश—

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म ६ सितम्बर सन् १८५० ई० (सं० १९०७) में काशी में हुआ था। ये इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे। इनके पिता का नाम बाबू गोपालचन्द था, जो कि हिन्दी के एक अच्छे कवि थे और जिनका उपनाम गिरधरदास था। हरिश्चन्द्र बड़े ही चंचल स्वभाव के थे। इनका मन पढ़ने-लिखने में नहीं लगता था। लेकिन इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी, और इनके अध्यापक इनसे सदा प्रसन्न रहते थे। बाल्य-काल से ही उन्हें कविता से प्रेम था। सात वर्ष की अवस्था में इन्होंने एक दोहा बनाकर अपने पिता को दिखाया-सुनाया, जिसे सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए। जब इनकी अवस्था ६ वर्ष ही की थी इनके पिता का देहान्त होगया। अब इनकी देख-रेख और शिक्षा दीक्षा का भार इनकी माता पर आ पड़ा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनका स्वभाव बड़ा ही चंचल था। ये स्वच्छन्द प्रकृति के थे और माता का कहना न मानकर मनमाना काम करते थे। घर ही पर इन्होंने कुछ अंग्रेजी सीखा और स्कूल में भर्ती हो गये। जब इनकी माता जगन्नाथ जी जाने लगीं तो ये भी पढ़ना-लिखना छोड़कर उनके साथ वहाँ गये और जब लौट कर घर आये तो स्कूल जाना छोड़ दिया। इन्होंने घर ही पर एक स्कूल खोला जिसमें निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। आगे चलकर यह स्कूल उन्नति कर गया और आजकल हरिश्चन्द्र इन्टरमीडियेट कालेज के नाम से प्रसिद्ध है। साहित्यिक क्षेत्र में पूर्ण रूप से आ जाने

पर इन्होंने हिन्दी-भाषा के प्रचार और प्रसार के लिये बहुत से पत्र और पत्रिकाओं को जन्म दिया जिनमे 'कवि वचन-सुधा', और 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' उल्लेखनीय है। इन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की जिसमें प्रेम और धर्म-सम्बन्धी विषयों पर विवेचना की जाती थी। हरिश्चन्द्र ने एक 'पेनी रीडिङ्गक्लब' भी खोला था, जिसमें समस्या-पूर्ति तथा अच्छे-अच्छे लेख सुनाए जाते थे। ३५ वर्ष की अवस्था में (सन् १८८५ में) इनकी मृत्यु हुई।

रचनाएँ :—

भारतेन्दु की प्रतिभा बहुमुखी थी। ये सुकवि, नाट्यकार, गद्य-लेखक इत्यादि सभी कुछ थे। इनकी मौलिक रचनाओं में सत्य-हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारतदुर्दशा, अन्धेरनगरी, नीलदेवी, तदीय सर्वस्व, तथा काश्मीर-कुसुम अधिक प्रसिद्ध है।

हिन्दी-साहित्य और हरिश्चन्द्रः—

हरिश्चन्द्र जी का स्थान हिन्दी-साहित्य में बड़े ही महत्व का है। वस्तुत. आधुनिक हिन्दी गद्य तथा पद्य-साहित्य के भारतेन्दु ही जन्मदाता है। इनके पूर्व रीति-काल मे हिन्दी-साहित्य का जैसा गला घोंटा गया था और उसके परिमाण-स्वरूप हिन्दी-भाषी जनता मे जिन विपाक्त भावनाओं का उत्पादन हुआ था, वह इनके राष्ट्रीय हृदय में शल्यवत् चुभ गया। रीति-कालीन शृंगारिक काव्य ने हिन्दी-जनता के सद्विचारों तथा चिरकालीन संस्कृत भावनाओं पर तुषारापात किया था। लोगों मे नायिकाओं के नख-शिख-वर्णन ने, भ्रूभंग-विलास ने, तथा अनुदार और असभ्य काम-प्रदर्शन ने एक अतीव अहित-कारिणी प्रवृत्ति को आविर्भूत कर दिया था। भारतेन्दु ने इस अवनतो-मुखी प्रवृत्ति को हिन्दी-साहित्य में देखा और उसके उन्मूलन के लिए तत्कालीन काव्य

धारा को परिवर्तित करने का भरसक प्रयत्न किया। ये हिन्दी-काव्य-धारा को एक नये मार्ग पर ले आये। हिन्दी-साहित्य में इन्हीं ने राष्ट्रीयता का उत्पादन किया। भारतेन्दु ने भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव का ध्यान दिलाया और स्वाधीनता का मन्त्र सिखाया। उन्होंने कहा:—

चलहु वीर, उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ,
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि, रन रंग जमाओ।
परिकर कसि कटि उठो धनुस पै धरि सर साधो,
केसरिया बानो सजि-सजि रन कंकन बाँधो।
तनिकहु संक न करहु, धर्म जित जय तित निश्चय,
पदतल इन कहँ दलहु कीट-तृन-सरिस यवन-चय॥

एक ओर तो उन्होंने रीतिकालीन साहित्यिक रूढ़ियों का उत्पाटन किया और दूसरी ओर हिन्दी-भाषा में नये साहित्य का उत्पादन। समय के अनुसार भाषा को भी चलना चाहिए, इस तत्व को उन्होंने अनुभव किया। हरिश्चन्द्र के पहले हिन्दी-साहित्य में व्रजभाषा का गद्य बहुत ही लथड़ और निर्बल था। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक भावनाओं के अभिव्यंजना की शक्ति उसमें नहीं थी। भारतेन्दु ने खड़ी बोली के गद्य का निर्माण किया और इसलिए इनको आधुनिक हिन्दी-गद्य का निर्माता कहा जाता है। काव्य-क्षेत्र में इन्होंने व्रजभाषा के किंचित परिशोधित कलेवर में नवीन प्राण का संचार किया लेकिन गद्य में तो इन्होंने व्रजभाषा के गद्य की रूप-रेखा ही बदल दी। साथ ही साथ हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों की परिपुष्टि के लिये देश के नवजात तथा सिद्धहस्त लेखकों की एक मण्डली स्थापित की। उन्हें साहित्य-सेवा के लिये धन, प्रेम और सहानुभूति से लोगों को प्रोत्साहित किया। इन्होंने पुरस्कार देकर तथा सहानुभूति

और पारस्परिक प्रेम के वशीभूत करके अच्छे-अच्छे कवियों तथा लेखकों से बहुत उत्तमोत्तम ग्रंथों की रचना करायी और स्वयं भी काव्य, नाटक, निबन्ध इत्यादि सभी कुछ लिखा। इनकी विद्व-मण्डली में पण्डित बदरीनारायण चौधरी, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० राधा-चरण गोस्वामी तथा लाला श्रीनिवासदास आदि लेखक और कवि थे।

भाषा तथा शैली:—

भारतेन्दु रीतिकालीन हिन्दी पद्य तथा गद्य-साहित्य के भाव-जगत तथा भाषा के कलेवर के परिवर्तक है। हिन्दी-साहित्य की नायक-नायिका-सम्बन्धी अश्लील विचारधारा का उत्पाटन करके इन्होंने उसके स्थान पर देश, जाति तथा राष्ट्र-प्रेम की त्रिवेणी प्रवाहित किया। रीतिकालीन गद्य के जर्जर मरणासन्न कलेवर को समाधिस्थ करके खड़ी बोली के गद्य के नवजात शिशु को इन्होंने हिन्दी-जगत के समक्ष खड़ा किया। लेकिन पद्य के लिए उन्होने कोमल-कान्त-कलेवरा व्रजभाषा ही को अपनाया। बात यह थी कि खड़ी बोली उनके समय तक इतनी परिपुष्ट नहीं हो पायी थी कि उसमें मानव-उछ्वासों की रसात्मक व्यजना हो सके। लेकिन इन्होने व्रजभाषा के जिस रूप को व्यवहृत किया, वह केशव, बिहारी, मतिराम, भूषणादि कवियों की भाषा से भिन्न है। उसमे पहली विशेषता तो यह है कि व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों की भाषा की भाँति लचीली होते हुए भी शब्दों का तोड़-मरोड़ उसमे नही है। दूसरी बात यह है कि वह प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से परिपूर्ण और सरल तथा सुबोध है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का पुट है। लेकिन भारतेन्दु ने नित्यप्रति की बोलचाल मे व्यवहृत होनेवाले तत्सम शब्दों को ही प्रयुक्त किया है। भाषा के

सम्बन्ध में भारतेन्दु जी शुद्ध खड़ी बोली के पक्षपाती थे और इस विषय में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के उर्दूमिश्रित हिन्दी से उनका सैद्धान्तिक मतभेद था। अस्तु, बिहारी और केशव के प्रतिकूल आवश्यकता पड़ने पर भी इन्होंने उर्दू के शब्दों का बहिष्कार किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतेन्दु के पद्य-साहित्य में मुहावरों की न्यूनता है. लेकिन इस न्यूनता के होते हुए भी भारतेन्दु की भावुकता ने उनके काव्य में सरसता उत्पन्न कर दिया है। शब्दों की सुन्दर योजना, वर्ण्यवस्तु की अलंकारिक अभिव्यंजना, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का कुशल प्रयोग और सबसे अधिक कवि की अपनी भावुकता तथा तन्मयता भारतेन्दु की भाषा के कलेवर को सरस, मधुर और परिमार्जित कर देते हैं। भारतेन्दु जी ने अधिकतर रोला और सवैया छन्दों को अपनाया है। भारतेन्दु की भाषा समयानुसार परिवर्तन-शील भी है। हास्योत्पादक प्रसंगों में इन्होंने ऐसी भाषा का उपयोग किया है जो हृदय में गुदगुदी उत्पन्न कर देती है। इन स्थलों पर इनकी भाषा-नटिनी को अपनी शान्त और संयत मुद्रा छोड़कर लट्ठ मतरंगी चोलिया धारण करनी पड़ती है। यहाँ पर भारतेन्दु की भाषा के नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं:—

(क) नव उज्जल जलधार हार-हीरक सी सोहति,
बिच-बिच छहरत बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत,
जिमि नरगन मन बिबिधि मनोरथ करत मिटावत॥

(ख) मनमोहन से बिछुरी जब सों, तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचन्द जू प्रेम के फन्द परी, कुल की कुल लाज हीं खोवती हैं॥
दुख के दिन को कोऊ भाँति बितै, बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपनी दसा जानै सखी, निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥

(ग) चूरन अमलवेद का भारी, जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पँचलोना, जिसको खाता स्याम सलोना।
चूरन अमले जो सब खावें, दूनी रिश्वत तुरत पचावें।
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अक्लि अजीरन रोग।
चूरन खावैं एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात।
चूरन पुलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।

भारतेन्दु के काव्य की अन्तरात्मा:—

मेरा विचार है कि न तो कला कला ही के लिए होनी चाहिए और न केवल मनोरंजन ही के लिए। कविता का मनोरंजन तथा कला को छोड़कर एक और उद्देश्य होता है और वह है लोक-हित-चिन्ता। कवि अपने ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों कर सकता है। रीतिकालीन कवियों की भाँति कामिनी के चाहे तो कवि केलि-कलाप, भ्रूभंगविलास, कटीली कटाक्ष, नागिन सम केशपाश और गुलाब के पुष्प से छाला पड़ जानेवाले कोमल कलेवर का वर्णन करके वह समाज को काम-वासना और भोग-विलास के गढ़े में अधःपतित कर सकता है और चाहे तो वह अपनी लेखनी से समाज में सदाचरण, नैतिकता, देश-प्रेम, जाति-प्रेम, समाज-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम और मानव-प्रेम की अग्नि प्रज्वलित कर सकता है। कवि-प्रतिभा ईश्वर ने उसे दी ही है, लेखनी उसके हाथ में है ही, वह जो चाहे सो करे। लेकिन उत्तरदायित्व-हीन कवि समाज का शत्रु है। वह उस गुप्त षडयंत्रकारी की भाँति है जो अपने मित्र को छिपे-छिपे रसपान के बहाने उसके रस में विष का थोड़ा-थोड़ा अंश मिलाकर उसे जर्जर करता रहता है। रीतिकालीन कवियों ने लौकिक प्रेम का आश्रय लेकर नायक और नायिका का चुम्बन, परिम्भण

और सहरमण, वियोग और संयोग का वर्णन करके ठीक यही काम किया था। उन्होंने वासना का विष-वृक्ष हिन्दू-जनता में आरोपित किया था। देश और जाति-प्रेमी हरिश्चन्द्र ने देश-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम का उष्ण वारि डालकर उस वृक्ष का उन्मूलन किया। लोगों की जिह्वा पर बिहारी के—

"भूषण भार सँभारिहैं, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाँय न धर परत, सोभा ही के भार॥"

अथवा मतिराम के—

"केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही मे लला पुनि घात लगाई।
'प्यास लगी, कोउ पानी दै जाइयो', भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरै मतिराम बोलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हों सुगेह की देहरि पै धरि आई॥"

के स्थान पर भारतेन्दु की—

भारत के भुज बल जग रच्छित, भारत-विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत बिस्तारा, भारत भय कंपन संसारा।

और—

चलहु वीर, उठि तुरत सबै जयध्वजहिं उड़ाओ,
लेहु म्यान सों खरग खींचि, रन रंग जमाओ।

ने स्थान ले लिया। धन्य है भारतेन्दु की लोक-कल्याण-भावना। अस्तु, भारतेन्दु की कविता का प्रधान गुण है उनकी राष्ट्रीयता। यह राष्ट्रीयता देश, जाति और समाज प्रेम पर अवलम्बित है। कवि को प्राचीन भारत का गौरव-मय अतीत स्मरण हो आता है और वह आधुनिक अध:पतित दशा पर आठ-आठ आँसू बहाता है—

कहा करी तकसीर तिहारी, रे बिधि रुष्ट याहि की बारी।
सबै सुखी जग के नर नारी, रे बिधिना भारतहिं दुखारी।

भारतेन्दु का 'भारत दुर्दशा' एक राष्ट्रीय नाटक है। उसमें आत्मग्लानि, पूर्वगौरव-स्मृति, लाँछन, व्यंग, वेदना आदि अनेकानेक भावों का संमिश्रण है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में भी पौराणिक कथानक के आधार पर कवि ने जातीयता और नैतिकता के भावों का सृजन किया। राजा हरिश्चन्द्र के ये वाक्य—

चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार,
पै दृढ़व्रत हरिचन्द को, टरै न सत्य विचार।

किन-किन नैतिक भावों का सृजन करते है, यह किसी से छिपा नही है। इसी नाटक के अन्त में भारतेन्दु ने अपनी कामना को इस प्रकार व्यक्त किया है:—

खल गगन सों सज्जन दुखी मत होइँ, हरिपद रति रहै।
उपधर्म छुटै, सत्व निज भारत गहे, कर-दु.ख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
तजि-ग्राम-कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥

राष्ट्रीयता के लिए यह आवश्यकता थी कि लोगों को उनके दोषों और कुरीतियों का प्रदर्शन कराकर उन्हे दूर करने का संदेश दिया जाय। इसके लिए भारतेन्दु ने अपने दो प्रहसनों 'अंधेर-नगरी' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का आश्रय लिया। इनमें हास्यरस प्रचुर मात्रा में है और इसी की ओट में कवि ने अपने मन्तव्य में सफल होने का प्रयत्न किया है। इसके भी दो एक उद्धरणों को देखिए:—

(क) चूरन अमलवेद का भारी, इसको खाते कृष्ण मुरारी।
(ऊपर उद्धृत है)

(ख) अँधेर नगरी अनबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा।
साँचे मारे-मारे डोलैं, छली-दुष्ट सिर चढि चढि बोलै।
प्रकट सभ्य अंतर छलधारी, सोई राज-भसा बलभारी।

भीतर होइ मलिन की कारो, चाहिय बाहर रँग चटकारो।

(ग) मीन काटि जल धोइए, खाए अधिक पियास।
अरे, तुलसी प्रीति सराहिए, मुए मीत की आस॥

राम रस पीओ रे भाई
अरे एकादशी के मछली खाई।
अरे क्यौं मरे बैकुण्ठ जाई॥
राम रस पीओ रे भाई।

इस प्रकार अपनी उपदेशात्मक तथा हास्यरस-परिपूर्ण वाणी से भारतेन्दु ने समाज की परम्परागत रूढ़ियों का उत्पाटन करना चाहा। वे अपने कार्य में कितना सफल हुए इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी-काव्य-जगत में राष्ट्रीय भावनाओं का ही बोलवाला है।

हिन्दी-जगत में भारतेन्दु का प्रादुर्भाव एक देवदूत के रूप में हुआ। उन्होंने हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्थान की जो सेवाएँ की उनके लिए युग-युगान्तर तक हिन्दू जाति उनका ऋणी रहेगी। अन्त में हम उनकी प्रशंसा में उन्हीं का यह दोहा उद्धृत करके स्थानाभाव के कारण इस लेख को समाप्त करते है—

परम प्रेमनिधि रसिक वर, अति उदार गुन खान,
जग-जन-रंजन आशुकवि, को हरिचंद समान।

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर

शब्द-योजना के विचित्र कलाकार बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का जन्म संवत् १९२३ में काशी में हुआ था। इनके पूर्वज पानीपत निवासी थे और मुगल-दरबार में ऊँचे पदों पर काम करते थे। लेकिन पानीपत छोड़कर वे लोग लखनऊ में आ बसे थे। इनके परदादा सेठ तुलाराम जहाँदरशाह के साथ काशी में जा बसे थे। रत्नाकर के पिता बाबू पुरुषोत्तमदास फारसी के अच्छे विद्वान और हिन्दी-काव्य के प्रेमियों में थे। ये भारतेन्दु के घनिष्ट मित्रों में से थे और उनके यहाँ कवि-समाज में काव्य-रस चखने के लिए सम्मिलित हुआ करते थे। जगन्नाथदास को भी भारतेन्दु का प्रोत्साहन मिला। इन्होंने बी० ए० परीक्षा फारसी लेकर पास किया और 'जकी' उपनाम रखकर फारसी में कुछ रचनाएँ भी किया, लेकिन भारतेन्दु का संसर्ग इन्हें हिन्दी की ओर खींच लाया। हिन्दी में इन्होंने अपना उपनाम 'रत्नाकर' रक्खा।

रत्नाकर जी आवागढ़ में दो वर्ष नौकरी करने के बाद जल-वायु अनुकूल न होने के कारण काशी चले आए। इसके बाद वे अयोध्या-नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी हुए और सन १९०६ में महाराज के देहावसान के अनन्तर वे महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए। इस पद पर उन्हें राज्यकार्य में इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि काव्यानन्द के लिए बहुत कम अवकाश मिलता था। फिर भी कुछ न कुछ समय बचा-खुचाकर रत्नाकरजी हिन्दी सेवा करते ही रहे। २१ जून सन् १९३२ में इन्होंने पार्थिव शरीर का परित्याग किया। 'हिंडोला' रत्नाकर की सर्वप्रथम रचना है।

आपकी दूसरी रचना 'समालोनादर्श' अनुवाद है। 'हरिश्चन्द्र', 'कल-काशी', 'उद्धव-शतक', और 'गंगावतरण' आपकी प्रसिद्ध मौलिक रचनाएँ। बड़े ही परिश्रम और धन-व्यय से आपने 'बिहारी सतसई' तथा 'सूरसागर' का प्रामाणिक संस्करण निकलवाया, जिनमें 'बिहारी सतसई' की टीका आज तक की प्रकाशित टीकाओं में सर्वोत्तम है और 'सूरसागर' का संग्रह और संपादन के पूर्ण होने के पूर्व ही आपने इस संसार से कूच कर दिया।

भाषा तथा शैली—

खड़ी बोली के आधुनिक युग में आकर्षण-हीन विगत-यौवना ब्रजभाषा के साथ सहानुभूति और सहृदयता दिखलाकर रत्नाकर ने अपनी अद्भुत क्षमता तथा प्रतिभा का परिचय दिया। वर्तमान काल में, जब कि अधिकाधिक कवि और लेखक खड़ी बोली से आकर्षित होकर ब्रजभाषा से मुँह मोड़ते चले जा रहे हैं और जब गलित-श्री ब्रजभाषा को हिन्दी-साहित्य के सिंहासन से उठना पड़ रहा है, तब उसके अमूल्य काव्यरत्न-हार में जाते-जाते दो एक मुक्ताओं को गूँथकर उसे नमस्कार कर लेना रत्नाकर के काव्य-प्रतिभा की उद्दण्डता का द्योतक है। 'हिंडोला' और 'समालोचनादर्श में रत्नाकर की ब्रजभाषा अपने वास्तविक रूप में है। दोनों के एक-एक उदाहरण देखिए:—

नख-सिख नवसत सजे बँस नवमत सुखदाई,
निधि नव, मत अपसरन सुमनि लखि जिनहिं लजाई।
फागुन में करि छेड़-छाड़ गँठति छतरीं,
पिय प्यारी की ओर हेरि हिय हुलस हिरानी॥
धन्य ब्रजधर सुकवि समय सुभ जीवन धारी,
सकल जगत अस्तुति के उचित अमर अधिकारी।

बढ़त मान जिनकौ ज्यौं-ज्यौं जुग अंतर पावै,
जैसे नद चौडात चले आगे नित आवै ॥

हिंडोला और समालोचनादर्श में रत्नाकरजी की भाषा अपरिमार्जित तथा स्वाभाविकता से हीन है। इसे देखते ही पता लग जाता है कि कवि ने बरवश इसका प्रयोग किया है, लेकिन उद्धव-शतक और गंगावतरण में पहुँचकर रत्नाकर की भाषा-सुन्दरी का रूप निखर गया है। रत्नाकर जी ने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है और उसमें संस्कृत की तत्समपदावली को गूँथ दिया है। विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग बिल्कुल नहीं के बराबर है कुछ देशी प्रयोग जैसे गमकावत, बगीची, धरना, परना और कुछ अप्रचलित शब्द जैसे स्वामिप्रसेद, पातछाल, दंद-उमस इत्यादि यत्र-तत्र आ गए है, लेकिन इनसे भाषा का सौष्ठव नष्ट नहीं हुआ है। रत्नाकर की भाषा में एक विचित्र छटा है जो ब्रजभाषा के कवियों की कोमलकान्त-कलेवरा भाषा से भिन्न है। इनकी भाषा में माधुर्य के स्थान पर ओज अधिक मात्रा में है। लम्बी-लम्बी समासान्त पदावली की छटा सर्वत्र दीख पड़ती है। छन्दों में इन्होंने कवित्त और रोला का अधिक उपयोग किया है। रत्नाकर की प्रौढ़ भाषा का नमूना नीचे दिया जाता है —

(क) सिंधुर-बदन-सुरंग गंग-सिर-धरन-दुलारे।
गिरजा-गोद विनोद करत मोदक मुख धारे ॥
सुभ सुंडिका उभारि धारि सीतल जल धावत।
षडमुख-सन्मुख सुमुख साधि उझकंत झमकावत ॥
सो लुकत ओट नंदीस की लखि दंपति-मन मुद भरै।
यह बाल-खेल गनपाल कौ विघन-जाल सुमिरत हरै ॥

(ख) स्वाति-घटा घहराति-मुक्ति पानिप सौं पूरी।
केधौं आवति झुकति सुभ्र-आभा रुचि-रूरी ॥

मीन-मकर-जल-व्यालनि की चल चिलक सुहाई।
सो जनु चपला चमचमाति चंचल-छवि-छाई॥

रत्नाकर के काव्य की अन्तरात्मा—

रत्नाकर जी ब्रजभाषा के कवि होते हुए भी इस भाषा के अधिकांश कवियों से भिन्न हैं। रीतिकालीन कवियों की चर्चा करनी ही यहाँ व्यर्थ है; क्योंकि नायक-नायिका सम्बन्धी भावनाएँ तो रत्नाकर में शून्य हैं। अब रही भक्त-कवियों की बात। सूरदास और रसखान आदि की भाँति रत्नाकर का काव्य-कल्पतरु पौराणिक कथा के भूमि-क्षेत्र में अंकुरित हुआ है। उद्धव-शतक जो रत्नाकर की सर्वोत्कृष्ट रचना है, पौराणिक कृष्ण-चरित्र पर अवलम्बित है, गंगावतरण में गंगाजी का भूमि पर आना तथा 'हरिश्चन्द्र' में राजा हरिश्चन्द्र की सत्य-प्रतिष्ठा पौराणिक कथा के आधार पर है। सूर आदि भक्त-कवियों की भाँति रत्नाकर ने भी पौराणिक कथाओं की पुनरुक्ति की है, लेकिन रत्नाकर के काव्य में भक्ति की वह तल्लीनता और तन्मयता नहीं है जो सूर में है। भक्त-कवियों में रस की धारा बहती है, रत्नाकर में सूक्तियाँ मिलती है। भक्त-कवियों ने पौराणिक कथाओं में अपनी भावुकता का मिश्रण करके अपने सरल हृदय का परिचय दिया है। रत्नाकर ने पौराणिक कथाओं में भावों की नवीनता तथा उक्ति-चमत्कार का मिश्रण करके उसे ओजपूर्ण बना दिया है। यही रत्नाकर के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। नीचे उद्धव-गोपी-संवाद से एक सूर का पद और एक रत्नाकर का पद उद्धृत करके इस तत्व की पुष्टि की जा रही है:—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजै॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं, अलि गुंजै।

पवन पानि घनसार संजीवनि दधिसुत किरन भानु भई भुँजै ॥
ए ऊधव कहियो माधव सों बिरह कदन करि मारत लुँजै ।
सूरदास प्रभु की मग जोवत अँखियाँ भई बरनि ज्यौ गुँजै ॥
(सूरदास)

विकसित बिपिन वसंतिकावली कौ रंग,
लखियत गोपिन के अंग पियराने मैं ।
बौरे वृंद लसत रसाल बर बारिन के,
पिक की पुकार है चबाव उमगाने मैं ॥
होत पतझार-झार तरुनि समूहनि कौ,
बैहरि बसात लै उसास अधिकाने मैं ।
काम-बिधि बाम की कला मैं मीन मेष कहाँ,
ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने मैं ॥

भक्ति का यह शैथिल्य अधिकांश में भक्ति-भावना के छिछलेपन और शृंगार तथा उक्ति-चमत्कार प्रदर्शन की लालसा से उत्पन्न हुआ है। रत्नाकर ने अपने प्रस्तुत भावों को ओजस्विनी भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न किया और फलतः भावों में छिछलापन आ गया। रत्नाकर की वर्णनशैली अद्भुत है। शब्द-योजना का जो सुन्दर चमत्कार रत्नाकर ने उपस्थित किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। एक उद्धरण और देकर इस लेख को समाप्त किया जा रहा है:—

सज्जन कौ सुख होइ सदा हरिपद-रति भावै।
छूटै सब उपधर्म सत्व निज भारत पावै ॥
मत्सरता अरु फूट रहन इहिं ठाम न पावै।
कुकबिनि कौ बिसराइ सुकवि-बानी जग गावै ॥

'सुकवि-सम्राट् पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय'

परिचय :—

उपाध्याय जी का जन्म सं० १६२२ में आजमगढ़ जिले के निज़ामाबाद नामक तहसील में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० भोलासिंह उपाध्याय था। आप सनाढ्य ब्राह्मण हैं। ६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने विद्याध्ययन प्रारम्भ किया और वर्नाक्यूलर मिडिल की परीक्षा पास करने के अनन्तर कीन्स कालेज, काशी में कुछ समय तक अंगरेजी का अध्ययन किया परन्तु स्वास्थ्य बिगड़ जाने से पढ़ना छोड़कर घर ही पर संस्कृत, उर्दू और फारसी का अध्ययन करने लगे। नार्मल की परीक्षा पास करने के उपरान्त आप कुछ दिनों कानूनगोई की परीक्षा पास की और क़ानूनगो हो गये। इस पद पर आप उत्तरोत्तर उन्नति करते रहे। सन् १६२३ में आपको पेन्शन मिल गई। तबसे आप बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक हैं और तन-मन-धन से हिन्दी-साहित्य-सेवा में रत हैं।

रचनाएँ :—

उपाध्याय जी की रचनाओं में 'ठेठ हिन्दी का ठाट' (गद्य) अधखिला फूल (गद्य), वेनिस का बाँका (अनुवाद), प्रिय-प्रवास (महाकाव्य), चुभते चौपदे, चोखे चौपदे (बोलचाल की भाषा), रसकलश, वैदेही-वनवास आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। 'प्रिय प्रवास' हिन्दी साहित्य में एक ऐसा महाकाव्य है जिसने उपाध्याय जी को सर्वदा के लिए अमरता प्रदान किया है। तुलसीदास के रामचरित-मानस को छोड़कर कोई दूसरा ग्रंथ इसके जोड़ का नहीं है—

भाषा तथा शैली—

प्रिय-प्रवास की भूमिका में उपाध्याय जी ने लिखा है—"यह काव्य खड़ी बोली मे लिखा गया है। खड़ी बोली में छोटे-छोटे कई काव्य-ग्रंथ अब तक लिपिबद्ध हुए है, परन्तु उनमें अधिकांश सौ दोसौ पद्यो में ही समाप्त है, जो कुछ बड़े है वे अनुवादित है, मौलिक नही। ×××××× अतएव मै इस न्यून्यता की पूर्ति के लिए कुछ साहस से अग्रसर हुआ। प्रिय-प्रवास की भाषा संस्कृत-गर्भित है। उसमें हिन्दी के स्थान पर संस्कृत का रंग अधिक है। अनेक विद्वान सज्जन इससे रुष्ट होंगे, कहेगे कि यदि इस भाषा में प्रियप्रवास लिखा गया तो अच्छा होता कि संस्कृत ही में यह ग्रन्थ लिखा जाता। ××××× क्या रामचरित-मानस, विनय-पत्रिका और रामचन्द्रिका से भी प्रियप्रवास अधिक संस्कृत-गर्भित है?"

जैसा कि इस उद्धरण से ज्ञात होगा प्रियप्रवास की भाषा संस्कृतगर्भित है परन्तु 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' की रचना करके उपाध्याय जी ने हिन्दी-संसार को यह दिखा दिया कि महा-वरेदार सीधी-सादी, साफ-सुथरी भाषा मे किस कुशलता के साथ वे भावों की अभिव्यंजना कर सकते है।

पहले पहल उपाध्याय जी ब्रजभापा में कविता किया करते थे। 'रस-कलश' इनकी ब्रजभापा की कविता का एक सुन्दर उदाहरण है, यद्यपि इसमें ब्रजभाषा को वह परिमार्जन नही प्राप्त हुआ है जो देव या मतिराम ऐसे सिद्धहस्त कवियों की रचनाओं को प्राप्त है। तदनन्तर द्विवेदी जी के प्रभाव से वे खड़ी बोली के क्षेत्र में आये।

उपाध्याय जी का भापा पर जितना अधिकार है उतना शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कवि का हो। इनकी भाषा दो प्रकार की

होती है, एक तो अत्यन्त क्लिष्ट, संस्कृत-बहुला और दूसरी सरल, सुबोध और मुहावरेदार। अपनी अत्यन्त क्लिष्ट भाषा का प्रयोग इन्होंने प्रियप्रवास में किया है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की बाहुल्यता है और लम्बी-लम्बी समस्त पदावलियों की भरमार। इसको एक प्रकार से विभक्ति-रहित संस्कृत भाषा ही कहना चाहिए। यद्यपि उपाध्याय जी ने इस भाषा का उपयोग बड़ी ही कुशलता से किया है, और माधुर्य की भरपूर रक्षा की है पर भावव्यंजना में दुरूहता आ गयी है। भाव-व्यंजना, जो कविता का प्राण है, गौण हो गया है और भाषा-पाण्डित्य प्रदर्शन, प्रधान। यही इनका बड़ा भारी दोष है। निम्नांकित अंश को देखिए:—

वसंत-माधुर्य-विकास-वर्धनी,
क्रियामयी मार-महोत्सवांकिता।
सुकपोलें थी तरु-अंक में लसी,
स-अंगरागा अनुराग-रंजिता॥

दूसरी प्रकार की भाषा जिसको उपाध्याय जी ने सफलता-पूर्वक प्रयुक्त किया है वह बोल-चाल की मुहावरेदार भाषा है। इसमें एक भी क्लिष्ट शब्द नहीं आने पाया है। इसमें उर्दू भाषा के चलते-पुरजे मुहावरों की छटा ही निराली है:—

किरकिरी वह आँख का जाये न बन,
जो हमारी आँख का तारा रहा।
कर दे न घर कलेजे में बाहीं,
है जिसे टुकड़ा कलेजे का कहा॥

ऐसे स्थलों पर उपाध्याय जी ने अपने मुहावरे-दानी के पाण्डित्य का पूर्ण परिचय दिया है। लेकिन इस प्रकार की शैली में भी भाव-व्यंजना को भारी ठेस लगी है। भावों का प्रकाशन भली-भाँति नहीं हो पाया है। मालूम पड़ता है कवि भाषाधिकार-

प्रदर्शन ही में लीन है। वह भाषा के पीछे दौड़ता है न कि भाव उसके पीछे। इस दौडा-दौड़ी मे काव्य-गत भावों को ठुकराया गया है और यह ठुकराना कवित्व के लिए बड़ा ही अहितकर हुआ है।

छन्दों के निर्वाचन में भी अयोध्यासिंह ने अपनी साहित्य-शास्त्र-विदग्धता का परिचय दिया है। इनकी नवीनता अतुकान्त छन्दों के लिखने में है। अतुकान्त छन्द इनके पहले हिन्दी के बहुत कम कवियों ने लिखा था। जो कुछ अतुकान्त छन्द लिखे भी गये थे उनमें भद्दापन और अपरिपक्वता थी। उपाध्याय जी ने परिमार्जित शैली मे अतुकान्त पदों की रचना की। उनमें वही माधुर्य है जो कि तुकान्त छन्दों में है। इन्होंने अपनी विदग्ध रचनाओं में संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीड़ित आदि छन्दों का प्रयोग किया है। वाक्य-रचना तथा वाक्य-विन्यास भी संस्कृत की शैली में है। अपने मुहावरेदार भाषा में इन्होंने सीधे-सादे छन्दों से काम चलाया है।

विविधि—

प्रियप्रवास में उपाध्याय जी ने श्रीकृष्ण के चरित्र का चित्रण एक नवीन दृष्टिकोण से किया है। 'प्रियप्रवास' के पूर्व-वर्ती काव्यों में हम यमुना के तट पर वंशी बजानेवाले, दधि-माखन चुरानेवाले, गोपियों के साथ भ्रू-भंग-विलास करनेवाले, व्रजललनाओं के साथ काम-केलि-कलाप करनेवाले श्रीकृष्ण की अश्लील लौकिक तथा अविश्वसनीय अलौकिक लीलाओं का वर्णन पाते है। हरिऔध के श्रीकृष्ण अलौकिक नहीं है। वे इसी संसार के वासी है। उन्हें अपने देश से प्रेम है और अपने देश-वासियों को लाभ पहुँचाने के लिये वे प्राण तक देने को प्रस्तुत है। उपाध्याय जी ने श्रीकृष्ण के लोक-पावन चरित्र का वर्णन किया है:—

अतः इसी काल यथार्थ रूप से, मजेन्द्र को ज्ञान हुआ फणीन्द्र का,
विचार के प्राणि-समूह-कष्ट को हुए समुत्तेजित वीर केशरी।
हितैषिता से निज जन्म-भूमि की, अपार आवेश हुआ मजेश को।
बनी महा वंक गठी हुई भवें, नितान्त विस्फारित नेत्र हो गए।

प्राकृतिक चित्रों के वर्णन में हरिऔध को बड़ी सफलता मिली है। पट-ऋतु आदि का वर्णन इन्होंने बड़ी कुशलता से किया है। कहीं-कहीं तो इनकी वर्णन-शैली आचार्य केशवदास से बढ़ गयी है। नीचे दिये हुए अवतरण में कवि ने वसंत में किसी पेड़ की की शाखा का कैसा सजीव वर्णन किया है—

विमुग्धता की वर-रंगभूमि सी,
प्रलुब्धता केलि वसुन्धरोपमा।
मनोहरा थीं तरु-डालियाँ महा,
नई कली कोमल कोपलों भरी॥

उपाध्याय जी का 'रस-कलस' ब्रजभाषा का एक सरस ग्रंथ है। यह उपध्याय जी के आचार्यत्व को उसी प्रकार प्रदर्शित करता है, जिस प्रकार 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' केशवदास के आचार्यत्व को। इसमें सब रसों के उदाहरण दिये गये हैं। इन्होंने इसमें नायिकाओं की संख्या में भी परिवर्धन किया है। परिवार-प्रेमिका, लोक-सेविका और देश-प्रेमिका आदि नायिकाएँ उपाध्याय जी की लेखनी से निर्मित हुई हैं।

अलंकारों के प्रयोग में उपाध्यायजी की कला सदा संयत रहती है। चमत्कार तथा उक्ति-वैचित्र्य के लिये इन्होंने अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है, यह बात रसकलस से भली-भाँति प्रकट हो जाती है।

कविपुङ्गव बाबू मैथिलीशरण गुप्त

परिचयः—

'साहित्य-सदन' चिरगाँव से राष्ट्रीयता की मधुर मन्दाकिनी प्रवाहित करनेवाले बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सं० १६४३ में चिरगाँव, जिला झाँसी में हुआ था। इनके पिता का नाम सेठ रामचरण था। ये अग्रवाल वैश्य हैं और वैष्णव मतानुयायी हैं। गुप्त जी की रुचि बचपन ही से पढ़ने-लिखने की ओर थी। कहा जाता है कि इनके पिता एक बहुत बड़े भगवद्भक्त थे। गुप्त जी की कविताओं में राष्ट्र, जाति और भक्ति की भावनाओं का मूल स्रोत पैतृक है। गुप्तजी का पालन-पोषण ही ऐसे वातावरण में हुआ कि इनमें जातीयता और राष्ट्रीयता की प्रबल प्रवृत्तियों का उद्भव हुआ। गुप्त जी पाँच भाई है। इनके छोटे भाई सियारामशरण गुप्त भी हिन्दी के अच्छे कवि है। गुप्त जी ने अपने गाँव ही में एक प्रेस खोल रक्खा है जिसका नाम 'साहित्य सदन' है। यही से वे अपनी रचनाओं का प्रकाशन करते है।

गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। उस समय सरस्वती का संपादन आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी करते थे। लोगों का कहना है कि द्विवेदी जी को गुप्त जी अपना साहित्यिक गुरू मानते हैं और उन्ही के आचार्यत्व में उन्होंने कविता करना सीखा। उन्ही से इनको साहित्य-सेवा का प्रोत्साहन मिला।

गुप्त जी की रचनाओं में प्रमुख ये हैं:—भारत-भारती, जयद्रथ-

वध, गुरुकुल, किसान, विरहिणीव्रजाङ्गना, रंग में भंग, पंचवटी, तिलोत्तमा, अनघ, त्रिपथगा, चन्द्रहास, यशोधरा, साकेत और द्वापर। भारत-भारती इनकी सर्वप्रथम रचना है और साकेत एक महाकाव्य है।

भाषा तथा शैली:—

'भारत-भारती' की रचना प्रारम्भ करते समय भारत-राष्ट्र के प्रतिनिधि कवि ने यह इच्छा प्रकट की थी:—

> मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती।
> भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती॥

ईश्वर ने कवि की प्रार्थना उस समय स्वीकार कर ली थी या नहीं, उसका अनुभव उस नवोत्थित कवि को भी नहीं हुआ होगा, लेकिन वर्षों बाद आज चिरगाँव के शांत-कुटीर में बैठकर कर साहित्य के इस अटल तपस्वी को ज्ञात हो गया होगा कि उसकी 'भारती' हिन्दी-भाषी बच्चे-बच्चे के हृदय में गूँज रही है। 'भारत-भारती' ने हिन्दी भाषा-भाषियों को यह बतला दिया कि खड़ी-बोली के दिन लौट आये। खड़ीबोली का उपयोग हिन्दी-पद्य के लिये सर्वप्रथम कब हुआ इस विषय पर यहाँ मुझे कुछ नहीं कहना है, लेकिन जिस खड़ीबोली का उपयोग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने काव्य-भाषा के लिये किया उसका कलेवर अपरिमार्जित तथा भद्दा था। उसमें उर्दू के शब्दों की भरमार थी। धीरे-धीरे यह परिष्कृत होने लगी और इसमें सरसता और सौष्ठव का समावेश हुआ। फिर भी ब्रजभाषा और खड़ी बोली का वितंडावाद उठ खड़ा हुआ। खड़ी बोली के विरोधियों का कहना था कि खड़ी बोली बोल-चाल और गद्य के लिए भले ही उपयुक्त हो लेकिन पद्य में माधुर्य और प्रसाद लाने की क्षमता इसमें नहीं है। सबसे

पहले पं० श्रीधर पाठक ने खड़ीबोली के परिमार्जित रूप को हिन्दी-पद्य के लिए प्रयुक्त किया। इसके बाद खड़ीबोली पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों में पड़कर और भी परिष्कृत हुई। इसके अनन्तर गुप्तजी ने इसमें मे युगान्तर ही स्थापित कर दिया।

गुप्तजी ने खड़ीबोली में काव्य की भाषा का जो रूप निर्धारित किया वह उसका उत्कृष्टतम रूप कहा जा सकता है। खड़ीबोली गुप्तजी के हाथों मे परिपुष्टता की चरम सीमा तक पहुॅच गयी। काव्य-क्षेत्र में, जैसा कि ऊपर कह आये है, आचार्यजी को गुप्तजी अपना गुरू मानते है। लेकिन भाषा-सौष्ठव में शिष्य गुरू से कहीं आगे बढ़ गया है, यह बात निःसंकोच कही जा सकती है। गुप्तजी की खड़ीबोली की कविता बहुत ही मधुर उतरी है। इनकी भाषा सरल है और शब्द मधुयम है। हॉ, कहीं-कहीं पर कर्ण-कटु शब्द भी आ गये है। 'हरिऔध' की भॉति लंबे-लंबे समस्त पद कम देखने में आते है। यदि कहीं समस्त पदावली है भी तो बहुत बड़ी नही है और न उसके कारण भाव-व्यंजना में कोई दुरूहता ही आयी है। इनकी भाषा को हम सरल खड़ीबोली कह सकते है। उसमें संस्कृत के सरल तत्सम शब्दों का प्रयोग है, कहीं पर किसी अप्रचलित और दुरूह शब्द का प्रयोग नहीं है।

गुप्त जी हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के अनन्य भक्त है इनका मत है कि जब हमें अपने भाषा ही में भावों को व्यक्त करने के लिये पर्याप्त शब्द मिल जाते है तो हम अन्य भाषाओं के शब्दों का उपयोग करके अपनी गुलामी क्यों दिखलावें ? इसलिए गुप्तजी ने शुद्ध हिन्दी के शब्दों को छोड़ करके किसी भी भाषा के शब्द का उपयोग नहीं किया है और यदि कही आवश्यकतावश उन्हे

ऐसा करना पड़ा है तो उन्हें इन्होंने हिन्दी के साँचे में ढाल लिया है। 'जरा' को गुप्त 'जरा' ही करके लिखते हैं।

जहाँ तक हो सका है गुप्त जी ने अपनी भाषा को साफ और सुथरा बनाये रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु कहीं-कहीं पर छन्द-शास्त्र के वशीभूत होकर 'हूजियो', हूजो, अँखियो' का प्रयोग करना पड़ा है तो कहीं पर 'हक्कालिमा' 'हृत्पत्र' आदि अनगढ़ शब्दों को लाना पड़ा है। साथ ही साथ महावरों की न्यून्यता सर्वत्र पायी जाती है। हिन्दी महावरों में अधिकतर उर्दू के शब्दों का उपयोग होता है। कुछ महावरे उर्दू के ही व्यवहृत होते हैं। जान पड़ता है कि उर्दू के शब्दों से अपना पीछा छुड़ाने का गुप्त जी ने भरसक प्रयत्न किया है। अब गुप्त जी की भाषा का नमूना नीचे दिया जाता है.—

> करता हुआ वध वैरियों का वैर-शोधन के लिए,
> रणमध्य वह फिरने लगा अति दिव्य-द्युति धारण किए।
> उस काल सूत सुमित्र के रथ हाँकने की रीति से,
> देखा गया वह एक ही दस-बीस सा अति भीति से॥

गुप्त जी के काव्यों में मात्रिक और वार्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का उपयोग हुआ है। गुप्तजी ने गीतिका और हरिगीतिका का इतना कुशल प्रयोग किया है कि ये दो छन्द अब अन्य कवियों के लिये जूठनमात्र रह गये हैं। इन्होंने अतुकान्त कविताएं भी बनाई हैं।

गुप्तजी के काव्यों में भारत-भारती, गुरुकुल, हिन्दू आदि उपदेशात्मक हैं, झंकार के गीत गीतिकाव्यात्मक हैं और 'साकेत' प्रबन्धात्मक महाकाव्य है।

गुप्त जी के काव्य की अन्तरात्मा:—

गुप्त जी को काव्य की प्रेरणा जाति, राष्ट्र और भक्ति से प्राप्त हुई। इन्हीं तीनों प्रेरणाओं का संक्षिप्त परिचय गुप्त जी के साहित्यिक भावनाओं के समझने के लिये पर्याप्त होगा।

शताब्दियों से पद-दलित हिन्दू-जाति की जो शोचनीय अवस्था इस समय है उस पर कौन ऐसा सच्चा हिन्दू होगा जो आठ-आठ आँसू न बहाये? गुप्त जी का उद्भव और पालन-पोषण हिन्दू-समाज ही में हुआ, इसलिए कवि ने हिन्दू-समाज और हिन्दू-राष्ट्र के उन्नति में योग देना अपना प्रथम कर्तव्य समझा। भारत-भारती में गुप्तजी ने अपनी लेखनी को सम्बोधित करके कहा है.—

स्वच्छन्दता से कर तुम्हें करने पड़े प्रस्ताव जो।
जग जायँ तेरी नोक से सोये हुए हो भाव जो॥

गुप्त जी ने सरस्वती के वरदान का उपयोग जाति-सेवा में किया। सुपुप्त हिन्दू-जाति को जगाने का जितना सफल प्रयत्न इनका हुआ उतना किसी भी समाज-सुधारक या राजनीतिक नेता का नहीं हुआ। हिन्दू-जाति के उद्बोधनार्थ उन्होंने पहले 'भारत-भारती' मे भारत के प्राचीन गौरव का प्रदर्शन किया। यथा:—

हे ब्राह्मणो फिर पूर्वजो के तुल्य तुम ज्ञानी बनो,
भूलो न अनुपम आत्म-गौरव धर्म के ध्यानी बनो।
क्षत्रिय सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन-सहित तन-मन तथा धन भेंट दो॥

प्राचीन गौरव दिखलाकर कवि वर्तमान दयनीय दशा पर आँसू बहाता है.—

भारत तुम्हारा आज यह कैसा भयंकर वेष है?
है और सब नि.शेष केवल नाम ही अवशेष है।

हा राम ! हा हा कृष्ण ! हा हा नाथ हा रक्षा करो ।
मनुजत्व दो हमको दयामय ! दुःख दुर्बलता हरो ॥

गुप्त जी तुलसीदास की भाँति राम के अनन्य भक्त हैं। राम ही इनके इष्ट-देव हैं और उनके प्रति दास्य-भाव का इन्होंने प्रदर्शन किया है। सगुण राम के गुप्त जी उपासक हैं। निर्गुण रूप को स्वीकार करना गुप्त जी के लिये दुरूह-सा प्रतीत होता है। परोक्ष ढंग से इन्होंने निर्गुणोपासकों पर कटाक्ष भी कर दिया है। इनके राम कृष्ण से भिन्न नहीं हैं:—

धनुर्बाण या वेणु लो श्याम रूप के संग ।
मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग ॥

गुप्त जी के राम भी तुलसी के राम की भाँति अत्याचारियों और दुष्टों के दमन ही के लिये पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। राम भक्ति की अनन्यता गुप्त जी में इतनी अधिक है कि जिन काव्यों का कथानक महाभारत के आधार पर है उनमें भी मंगलाचरण में राम की स्तुति की गयी है। गुप्त के राम का आदर्श जाति-सेवा, राष्ट्र-सेवा और समाज-सेवा है। इसके लिये वे दुष्टों का दमन करते हैं और फिर से मनुष्य-जाति को सुखी बनाते हैं:—

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल ही को स्वर्ग बनाने आया ॥

गुप्त जी ने भारत की प्राचीन संस्कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वे एक राष्ट्रीय कवि हैं और शताब्दियों से पद-दलित हिन्दू-राष्ट्र के उत्थान के लिये ही इन्होंने लेखनी चलायी है। इनकी उपदेशात्मक कविताओं में भारतीयों को उत्थान का प्रोत्साहन मिलता है। भारत के प्राचीन गौरव को दिखलाकर, उसकी दय-

नीय वर्तमान दशा का दिग्दर्शन कराकर इन्होंने भारतीयों के उद्बोधन का प्रचुर प्रयत्न किया है और अन्त में भगवान से भारतवर्ष को फिर से पुण्य-भूमि बनाने की प्रार्थना करके 'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए' की सार्थकता को व्यक्त किया है। इस कार्य के लिये उन्होंने यह आवश्यक समझा है कि हिन्दू-जनता अपने हिन्दुत्व का स्मरण करे। अस्तु:—

रखो हिन्दूपन का गर्व।
यही ऐक्य साधन का सर्व॥
हिन्दू, निज संस्कृति का त्राण।
करो भले ही दे दो प्राण॥

कविवर बाबू जयशंकर 'प्रसाद'

परिचयः—

हिन्दी-जगत् में छायावाद के प्रवर्तक कविवर प्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ल १२, सं० १९४६ में काशी में एक प्रसिद्ध हलवाई वैश्य कुल में हुआ था। इनके पितामह साहु शिवरत्न ने तम्बाकू का व्यवसाय करके अधिक धन पैदा किया था। इनका घराना सुँघनी साहु के नाम से प्रसिद्ध है। साहु शिवरत्न काशी में अपनी दानशीलता के लिये प्रसिद्ध थे। 'प्रसाद' जी के पिता का नाम साहु देवीप्रसाद था।

प्रसाद जी घर ही पर प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके स्थानीय क्वीन्स कॉलेज में भर्ती हो गये। जब ये सातवीं कक्षा में थे इनके पिता की मृत्यु हो गयी। इन्होंने पढ़ना-लिखना छोड़ दिया और घर ही पर अँग्रेजी, हिन्दी, उर्दू और फारसी का अध्ययन करने लगे। संस्कृत की ओर इनकी विशेष रुचि थी। इन्हें भारत के प्राचीन गौरव पर गर्व था जैसा कि इनके काव्यों से प्रकट होता है। इन्होंने भारत के पुरातत्व-साहित्य का अध्ययन किया और ये भारतीय दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित हुए। जब इनकी आयु १७ वर्ष की थी तभी इनके बड़े भाई का देहान्त हो गया। अब गृहस्थी का सारा बोझ इन्हीं पर आ पड़ा। इसमें इन्होंने बड़ी कुशलता दिखलायी और दो ही वर्ष के भीतर पैतृक सम्पत्ति पर जो कुछ ऋण था उसे चुका दिया। अब इनके लिये केवल दो काम रह गये; व्यवसाय की देख-भाल और साहित्य की सेवा।

प्रसाद जी को बचपन ही से कविता करने का शौक हो गया

था । दूकान पर बैठकर आप रद्दी कागजों की पृष्ठ पर हृदयोच्छ्वास अंकित किया करते । इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ व्रजभाषा में हुआ करती थी और इन्दु नामक पत्रिका में छपती थी । दिसम्बर सन् १६३१ में प्रसाद जी ने कलकत्ता, पुरी आदि स्थानो की यात्रा की । पुरी में अथाह अम्बुनिधि ने प्रसाद के मस्तिष्क और हृदय पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला ।

प्रसाद जी का शरीर हृष्ट-पुष्ट और मुखाकृति देदीप्यमान थी । इन्होंने बचपन ही से व्यायाम करके अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट बना रखा था । इनका पहनावा सीधा-सादा और भारतीय संस्कृति के अनुकूल था । जीवन-संध्या में प्राय. ये रुग्ण रहा करते थे । हिन्दी-साहित्य के दुर्भाग्य-वश कार्तिक शुक्ल ११, सं० १६६४ में इन्होंने संसार का परित्याग कर दिया ।

प्रसाद जी की विनम्रता उनके अपने परिचय नामक कविता में देखिए:—

छोटे से जीवन की कैसे बडी कथाएँ आज कहूँ,
क्या यह अच्छा नही कि औरों की सुनता मै मौन रहूँ ।
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्म-कथा ?
अभी समय भी नही, थकी सोई है मेरी मौन-व्यथा ॥

भाषा तथा शैली:—

प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचनाएँ व्रजभाषा में हुई थी । यह व्रजभापा हरिश्चन्द्र काल के कवियो की भाषा के सदृश है । इसमें कही-कही खड़ी बोली के भी शब्द आ गये है । 'प्रेम-पथिक' की रचना पहले-पहल व्रजभाषा ही में हुई थी । परन्तु प्रसाद जी के समय में द्विवेदी-स्कूल का बोल-बाला था । अतएव प्रसादजी ने भी

समय की गति से पीछे रहना उचित नहीं समझा और खड़ी बोली को अपना लिया। अपनी पहली रचनाओं की भाषा को दूसरे संस्करण में खड़ी बोली में परिवर्तित कर दिया।

प्रसाद जी को सब भाषाओं में संस्कृत बहुत ही प्रिय लगती थी। संस्कृत के पुरातत्व इतिहास का इन्हें अच्छा ज्ञान था। भारतीय दर्शन से इन्हे प्रगाढ़ प्रेम था। उपनिषदों से इन्हें बड़ी ही रुचि थी। इसलिये इनकी भाषा-शैली पर हमें संस्कृत-साहित्य की छाप मिलती है। वह एक प्रकार से संस्कृतबहुला ही है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरमार है और कहीं-कहीं लम्बी-लम्बी समस्त पदावलियाँ हैं। इनकी भाषा न तो मैथिलीशरण गुप्त की भाँति सरल खड़ी बोली है और न हरिऔध की भाँति क्लिष्ट खड़ी बोली। नीचे दिये हुए पद मे इनकी भाषा का नमूना देखिए: —

जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फिर फैला आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥
विमल वाणी ने वीणा ली कमल कोमल कर में सप्रीत।
सप्त स्वर सप्त सिन्धु में उठे छिड़ा अति मधुर साम संगीत॥

हाँ, यह बात अवश्य है कि इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ सरल है, परन्तु समय के साथ-साथ इनकी रचनाएँ प्रौढ़ तथा भाषा गम्भीर होती गयी। भारतीय दार्शनिक विचारों से भाव के साथ साथ भाषा में दुरूहता आ गयी। इनकी शैली में यह विशेष गुण है कि भाषा भाव की अनुगामिनी है और भावों के अनुसार भाषा में भी चढ़ाव-उतार हुआ करता है। झरना, आँसू और प्रेम-पथिक में भाषा सीधी-सादी है और जिस प्रकार इनके 'करुणा-कलित हृदय में विकल रागिनी बजती है।' इसी प्रकार भाषा में भी करुणा की छाप है। परन्तु कामायिनी में विषय के साथ-साथ भाषा भी दुर्बोध है। शब्दावली सर्वत्र ललित और मर्यादनीय है और

मुहावरों की न्यूनता है। गुप्त जी की भाँति इन्हे भी विदेशी शब्दों को अपने शब्दमण्डली मे स्थान देना अरुचिकर था। इन्हें इस बात का बहुत अधिक ध्यान रहता था कि भाव-व्यंजना को अक्षुण्ण बनाए रखकर जहाँ तक हो सके हिन्दी के ही शब्दों का उपयोग किया जाय। छन्दों के उपयोग मे भी उन्होंने शास्त्रीय पद्धति का अनुकरण नही किया। भावों की अभिव्यक्ति में उन्हे पिङ्गल आदि का ध्यान नही रहा। जैसा कि आजकल कवियो की धारणा है कि कविता के लिये छन्द-शास्त्र के ज्ञान की कोई आवश्यकता नही है, यही बात प्रसाद में भी पायी जाती है। उन्होंने कुछ अतुकान्त पदों की रचना भी की है। उन्होने हिन्दी-काव्य-जगत् मे रूपात्मक और भावात्मक क्रान्तियाँ की। जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में "भाषा सौरभ का जितना परिष्कृत रूप हमें प्रसादजी की रचनाओं में प्राप्त होता है वह स्तुत्य है। सचमुच इनकी भाषा अतीव मँजी हुई होती है। साथ ही साथ वह भाव-व्यंजना की दृष्टि से बहुत ही पुष्ट तथा प्रबल होती है। कोई भी ऐसा स्थल दृष्टिगोचर नही होता जहाँ वह भाव-प्रकाशन में निर्बल हो जाती हो। वह तो वर्षा-ऋतु की सरिता की भाँति ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है त्यों-त्यों धारावाहिक होती गई है।"

प्रसादजी की भाषा का एक और नमूना देखिए:—

निर्वासित थे राम, राज्य था कानन मे भी।
सच ही है श्रीमान भोगते सुख वन में भी॥
चन्द्रातप था व्योम तारका रत्न जडे थे।
स्वच्छ दीप था सोम प्रजा-तरु-पुञ्ज खडे थे॥
शान्त नदी का स्रोत बिछा था अति सुख-कारी।
कमल-कली का नृत्य हो रहा था मनहारी॥

प्रसाद की रचनाओं मे प्रमुख ये हैं:—

नाटक—स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुव-स्वामिनी, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री।

काव्य—कामायिनी, आँसू, लहर, प्रेमपथिक, झरना, कानन-कुसुम।

उपन्यास—कंकाल, तितली।

कहानी-संग्रह—आकाशदीप, छाया, इन्द्रजाल, आँधी।

प्रसाद के काव्य की अन्तरात्माः—

कविवर प्रसाद जी के भाव-जगत् का विश्लेपण करना बहुत ही असाध्य है और उसका थोड़े में सारांश दे देना असम्भव ही है। यहाँ पर उनकी मनोवृत्ति का संक्षिप्त परिचय दे देना ही उचित होगा।

प्रसाद की प्रारम्भिक कविताओं में प्रेम-तत्व की प्रधानता है। उनका हृदय प्रेम से ओत-प्रोत है, भावुक है और संसार को प्रेम के रंग में रंगा हुआ देखता है:—

मानव-जीवन वेदी पर, परिणय है विरह-मिलन का,
सुख-दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का।

प्रेम-पथिक उनकी प्रेम-प्रधान कृति है। इससे उनके हृदय का परिचय भली-भाँति मिल जाता है। कवि की यह धारणा है कि मनुष्य-जीवन में एक समय ऐसा होता है जब उसका हृदय प्रेम से उन्मत्त रहता है:—

प्रथम यौवन मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह।
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की थी तनिक न चाह॥

इस प्रेम से पिपासा होती है और वांछित फल को पाकर भी 'भरा जी तुमको पाकर भी हो गया छिछले जल का मीन' ही रह जाता है। अतृप्ति के कारण:—

इस करुणा कलित हृदय में, क्यो विकल रागिनी बजती।
क्यो हाहाकार स्वरो में, वेदना असीम गरजती॥

प्रेम के कारण विरह, नैराश्य, उन्माद सभी कुछ होता है, परन्तु फिर भी कवि भौतिकता से दूर ही रहता है; उसमें अश्लीलता नहीं आने पाती। उसका प्रेम शुद्ध और आध्यात्मिक है। इसमें इन्द्रिय-जन्य लिप्सा नहीं है। अन्त में कवि प्रेमी से कहता है:—

पागल रे वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब।
आँसू के कन-कन से गिनकर, यह विश्व लिए है ऋण उधार।
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य के प्रथम छायावादी कवि हैं। सबसे पहले इन्होंने अनुभव किया कि जिस प्रेम को, जिस सहानुभूति को, जिस सहृदयता को हम मानव-जगत में ढूँढ़ते हैं वह प्रकृति के मूक संसार में प्रचुर मात्रा में मिल सकता है। इसी लिए उनके हृदय से यह उछ्वास निकल पड़ा:—

चेतन समुद्र मे जीवन, लहरो सा बिखर पड़ा है।
कुछ छाप व्यक्तिगत अपना, निर्मित आकार खड़ा है॥

छायावाद के जिस शिशु को प्रसाद ने अपने करुण हृदय में पाला था वह आज किशोरावस्था में है। यह भविष्य ही बतलायेगा कि हिन्दी-साहित्य में वह किस प्रकार फूले-फलेगा।

प्रसाद जी को जीवन के घात-प्रतिघात ने नियतिवादी और निराशावादी बना दिया, अतः उन्हे भारत के प्राचीन अध्यात्मवाद का ध्यान आया। उन्होंने उन ऋषियो की अमर कृतियों का अध्ययन किया जिसके ज्ञान से मनुष्य सांसारिक सरिता को पार करके मानसिक शान्ति की अनुभूति करता है और आध्यात्मिक सुख को प्राप्त करता है। उन्होंने उपनिषदों तथा भारत की

प्राचीन संस्कृति का अध्ययन किया। उनके विचारों में दार्शनिकता ने प्रवेश किया। 'कामायिनी' में इसकी गहरी छाप है:—

चेतनता का भौतिक विभाग,
कर जग को बाँट दिया विराग।
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत्-शत्॥

भारतीय संस्कृति का अध्ययन करते समय प्रसाद जी बौद्ध तथा गुप्तकालीन सभ्यता की ओर अधिक आकर्षित हुए। इन्होंने बहुत से ऐतिहासिक तत्वों की खोज की, जिनका मूल्य साहित्य के विदग्ध विद्यार्थी ही आँक सकते हैं। अपने नाटकों का कथानक इन्होंने गुप्त-कालीन ऐतिहासिक तत्त्व पर निर्मित किया। यद्यपि यहाँ पर 'कवि प्रसाद' का ही विवेचन किया जा रहा है परन्तु प्रसंगवश उनके नाटकों पर भी थोड़ा-सा प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा।

प्रसाद जी के नाटकों में घटनाओं की प्रधानता नहीं है। उसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का आभास मिलता है। वे साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये हैं और रंगमंच के योग्य हैं या नहीं इसका निर्णय करना कठिन है। उनमें सामयिक, सामाजिक और राजनीतिक गुत्थियों का विश्लेषण है। प्रसाद जी ने नाटकों की प्राचीन परिपाटी में भी कुछ हेर-फेर किया है। उनमें बीच-बीच में जो गीत आये हैं वे बड़े ही साहित्यिक और मनोहर हैं। प्रसाद के नाटकों में भारत के प्राचीन गौरव को प्रकट करने की प्रेरणा प्रधान है।

भारत के प्राचीन गौरव का गान कवि ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है। प्रसाद का प्राचीन भारत वही है जो संसार का सर्व-

प्रथम सभ्य देश था, जहाँ के लोगों ने सबसे पहले प्रभात का दर्शन किया। भारत के प्राचीन गौरव को दिखलाकर कवि हमारे सामने यह आदर्श रखता है:—

जिएँ तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष—
निछावर करदें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

प्रसाद जी राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है। भारत की आधुनिक दयनीय दशा को देखकर उनका देश-भक्त हृदय छटपटाता है। वे भारतीयों के उत्साह को बढ़ाने के लिये कहते है—

हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्वला स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य आर्य वीर हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्यपंथ है, बढे चलो, बढ़े चलो॥

सुकवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

परिचयः—

हिन्दी-भाषा के परम्परा-गत काव्य-प्रणाली में युगान्तर-उत्पादक पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी का स्थान आधुनिक हिन्दी-कवियों में बहुत उच्च है। इनके पिता पं० रामसहाय त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और उन्नाव जिले के गढ़कोला गाँव के निवासी थे। वे बँगाल के महिषादल रियासत में नौकर थे। वहीं सं० १६५५ में मेदनीपुर गाँव में आपका जन्म हुआ था।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा बँगाल ही में हुई। प्रारम्भ में आपको बँगला वर्णमाला तथा भाषा का ज्ञान कराया गया। इसके बाद आपने बँगाल में मैट्रिक तक की शिक्षा प्राप्त की। कविता से प्रेम आपको बचपन ही से था। आपकी प्रारम्भिक कविताएँ बँगला भाषा में हुआ करती थीं। हिन्दी भाषा उन्होंने बाद को सीखा। कहा जाता है कि आपकी स्वर्गीय धर्मपत्नी प्रतिदिन रामायण का पाठ किया करती थीं जिसको आप कुछ भी न समझ सकते थे। इसलिए महात्मा तुलसीदास के इस महाकाव्य को पढ़ने के लिए आपने हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया। प्राकृतिक प्रतिभा तो थी ही, थोड़े दिनों में आप हिन्दी भाषा के पूर्ण विद्वान हो गये। अब आप हिन्दी में कविता करने लगे।

निरालाजी की प्रमुख रचनाएँ ये हैं:—

(१) अनामिका, परिमल, गीतिका (काव्य)
(२) अप्सरा, अलका, निरुपमा (उपन्यास)
(३) लिली, सखी (कहानियाँ)
(४) रवीन्द्र कविता कला (समालोचना)

भाषा तथा शैली—

निराला जी की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का वाहुल्य है। पदावली कोमल,कान्त और मँजी हुई है। कही-कही पर समस्त पदावलियो की छटा भी दृष्टिगोचर होती है—

मौन है, पर पतन में उत्थान मे,
वेणु-वर-वादन-निरत-विभु गान में।
है छिपा जो मर्म उसका समझते,
मौन तो भी है उसी के ध्यान में॥

इस कोमल कान्त पदावली में कविता कही-कही दुरूह हो गयी है। कही-कही भावों के तारतम्य का पता ही नही चलता। परन्तु यह दोष कवि की भाषा का नही है। निराला जी एक दार्शनिक कलाकार है। इनके विचारों की पृष्ठ-भूमि अद्वैतवाद की जटिल समस्या है। अत. भावों के अनुसार भाषा स्वत. दुर्बोध और दुरूह हो जाती है। भावों के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ भाषा में भी उतार-चढ़ाव की गति लक्षित होती। इनके भावानुकारिणी भाषा का सुन्दर उदाहरण नीचे देखिए:—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनो मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक।
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को।
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

निराला जी का शब्द-चयन तथा छन्द-प्रयोग भी अपने ढंग का निराला ही है। शब्दों के प्रयोग में आप उदार व्यवहारिकतावादी

हैं। भावों की व्यंजना के लिये आपको उर्दू शब्दों को ग्रहण करने मे संकोच नहीं होता। जैसा कि मैथिलीशरण गुप्त की भाषा तथा शैली की विवेचना मे बतलाया जा चुका है, गुप्त जी यथा-संभव किसी भी विदेशी शब्द को अपनी शब्द-मण्डली में स्थान नहीं देते। परन्तु निराला जी आवश्यकतानुसार अरबी और फ़ारसी शब्दों को भी ग्रहण कर लेते है:—

"सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूँज रहा सब कहीं—"
"बिछे हुए थे कांटे उन गलियों में
जिनसे मैं चलकर आई—
पैरो में छिद जाते जब
आह भार मैं तुम्हे याद करती तब
राह प्रीति की अपनी-वही कंटकाकीर्ण
अब मैने तै कर पाई॥

उर्दू भाषा के साथ-साथ उर्दू मुहावरों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। 'राह तै करना' 'आह भरना', 'आह-मारना' 'कलेजे के दो टूक करना' इत्यादि उर्दू के चलते-पुरजे मुहावरे इनकी भाषा मे दृष्टिगोचर होते हैं। इस खिचड़ी भाषा से हिन्दी का हित हुआ है अथवा अहित, इसका निर्णय भविष्य ही करेगा, परन्तु अव्यक्त के साथ 'सिर्फ' और कंटकाकीर्ण के साथ आह भरकर याद करना रेशम की अँगियों में टाट के बखिए के सदृश है। जब संस्कृत की कोमल कान्त पदावली के हंसो के बीच में पर्शिया और अरब के कौए बैठ जाते हैं तो सारी सभा फीकी पड़ जाती है। निराला जी की इस शैली का हिन्दी के नवीन कवियों पर जो प्रभाव पड़ा है, उनसे हिन्दी भाषा का भविष्य चिन्ताजनक होता जाता है। निराला ने तो केवल 'दिल' ही की छटा दिखलाकर

विश्राम ले लिया है परन्तु आजकल के कवि 'माशूक की नज़रों' से घायल होकर दिल के 'अरमान' की आभा प्रदर्शित कर रहे है! देखे हिन्दी के भविष्य में क्या बदा है।

भाषा की भाँति छन्द-निर्वाचन मे भी निराला जी की मनोवृत्ति निराली है। हिन्दी-साहित्य का छन्द-शास्त्र संस्कृत साहित्य की देन है। प्रत्येक छन्द मात्रा या वर्ण के बन्धन में बँधा होता है। यदि किसी पद में मात्रा की कमी या वेशी हुई या यदि किसी में वर्णों की व्यवस्था में उलट-फेर हुआ तो उसको मात्रिक या वर्णिक छन्द-दोष कहा जाता है। हिन्दी के कवियों ने इन्हीं संस्कृत साहित्य के परम्परागत छन्दों का उपयोग किया है। बीच-बीच में, विशेषतया रीतिकालीन काव्यों में, आवश्यकतानुसार कुछ नवीन छन्दों की भी सृष्टि हुई। लेकिन आधुनिक काल में निराला जी ने छन्द-शास्त्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दिया। परम्परागत शृंखला को निराला जी ने टुकड़े-टुकड़े कर दिया। भिन्न तुकान्त-रचना का जन्म तो प्रसाद जी की लेखनी द्वारा हो चुका था। अब निराला ने स्वच्छन्द छन्द का प्रवर्तन किया। स्वच्छन्द छन्द में मात्रा तथा वर्ण-विधान का बन्धन नही रहता। गति पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। ऊपर नीचे की पंक्तियों की मात्राएँ बराबर नहीं रहती है। प्रत्येक पंक्ति अपने ही में पूर्ण रहती है और कवि का प्रत्येक भाव जब पूर्ण हो जाता है, तभी गति और विराम की व्यवस्था की जाती है। पन्त जी के शब्दों मे "स्वच्छन्द छन्द ध्वनि अथवा लय पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर नाद में उतरता, चढ़ाव में मन्दगति, उतार में छिप्र वेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता, छाँटता अपने लिए ऋजु-कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-

पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित-प्रसरित होता, सरल-सरल ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।" यही स्वच्छन्द छन्द हिन्दी-भाषा को निराला जी की देन है। यह अतुकान्त और सातुकान्त दोनों होता है। दोनों का उपयोग निराला जी ने किया है—

अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू बरस-बरस रसधार !
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन भैरव-संसार।
उथल पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—
चल रे चल—
मेरे पागल बादल।

(अतुकान्त)

बंद तुम्हारा द्वार।
मेरे सुहाग शृंगार।
द्वार यह खोलो—।
सुनी भी मेरी करुण पुकार ?
ज़रा कुछ बोलो !

(सतुकान्त)

यही निराला जी के स्वच्छन्द छन्द हैं। इनको पढ़कर साधारण पाठक आनन्द नहीं उठा सकता है, जब तक कि इन्हें पढ़ने की कला उसे ज्ञात न हो। इनमें निराला जी ने कहीं-कहीं 'स्वच्छन्दता' की चरम सीमा का भी उल्लंघन कर दिया है। ऐसे स्थलों पर इनकी पंक्तियाँ गद्यवत हो गयी हैं और पढ़ने में, तथा छन्द की लय

के साथ चलने में बहुत बड़ी कठिनता का अनुभव होता है। आधुनिक नवजात कवियो ने, जिन्हे कि छन्द-शास्त्र का कुछ भी ज्ञान नही है इस 'रबड़' छन्द को बड़े प्रेम से अपनाया है। फल-स्वरूप हिन्दी-काव्य का सौन्दर्य ऐसे छन्द के पक्षपातियों के हाथ से मटियामेट किया जारहा है और हिन्दी काव्य-सुन्दरी का आवरण एक बाजारु वेश्या की भॉति प्रतिदिन बहुरंगा होता जा रहा है !

निराला की विचारधारा (काव्यगत)

जिस प्रकार निराला जी की काव्य-शैली निराली है, उसी प्रकार उनके काव्य-गत भाव भी निराले है। निराला जी का पालन पोषण वंग-संस्कृति में हुआ था। इसलिए वहॉ की तत्कालीन विचारधारा से वे अत्यधिक प्रभावित हुए है। विशेपकर स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों का बड़ा गहरा प्रभाव उन पर पड़ा है। निराला एक वैदान्तिक दार्शनिक है। वेदान्त उनका प्रिय विपय है। उनकी कविताओं में, उपन्यासों तथा कहानियो में वेदान्त की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। अद्वैतवाद का सोऽहम् इनका सिद्धान्त है। इसका सुन्दर उदाहरण 'मैं और तुम' में देखिए—

तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग, और मै चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास, और मै कान्ति कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मै शान्ति।
तुम सुरापान-घन अन्धकार, मै हूँ मतवाली भ्रान्ति॥

हिन्दी का आधुनिक युग जागरण का युग है। देश उस शृंखला के टुकड़े-टुकड़े करने के लिए व्याकुल है, जो शताब्दियों से उसे दास बनाए हुए है। प्रत्येक कवि अपने देश की प्रचलित विचार-धारा से प्रभावित होता है और उसकी अभिव्यक्ति अपने काव्यों और कविताओ में करता है। 'जलद के प्रति' 'जागो फिर

एक बार' 'महाराज शिवाजी का पत्र' इत्यादि कविताओं में निराला की देश-भक्ति-भावना दृष्टिगत होती है। कवि की देश-भक्ति विषयक कविताओं में ओज, उत्साह और प्रोत्साहन है :—

जागो फिर एक बार।
समर में अमर कर प्राण
गान गाएँ महासिन्धु से
सिंधु नद-तीर वासी।
सैंधव तुरंगों पर
चतुरंग चमू संग;
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"
किसने सुनाया यह
वीर-जन मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग?

ठाकुर गोपालशरण सिंह

परिचयः—

ठाकुर साहब का जन्म सं० १६४८ वि० में हुआ। आप सम्भ्रान्त सेंगरवशीय क्षत्रिय है और रीवॉ राज्य के अन्तर्गत नई गढ़ी रियासत के सहृदय शासक है। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा दरबार हाई स्कूल, रीवॉ में हुई। यहीं से आपने मैट्रीक्युलेशन की परीक्षा पास की।

ठाकुर साहब ने मैट्रीक्युलेशन पास करके पढ़ना छोड़ दिया। कविता की ओर रुचि तो बाल्यावस्था से ही थी, हिन्दी के प्राचीन कवियों की अमर कृतियों का आपने अध्ययन प्रारम्भ किया। बीस वर्ष की अवस्था से ही आपने हिन्दी भाषा की सेवा प्रारम्भ कर दिया। आपकी प्रारम्भिक रचनाऍ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। उस समय हिन्दी-साहित्य की गति स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से नियंत्रित हो रही थी और द्विवेदी जी ही 'सरस्वती' के सम्पादक थे। आपकी रचनाओं पर मुग्ध होकर द्विवेदी जी ने एक लेख लिखकर 'सरस्वती' में उनकी समालोचना किया। उस समय से अब तक ठाकुर साहब हिन्दी के भाण्डार को परिपूर्ण करने के प्रयत्न में संलग्न है। आपकी कृतियों में माधवी, कादम्बिनी, मानवी, और ज्योतिष्मती मुख्य है।

भाषा तथा शैलीः—

जिस समय ठाकुर साहब हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हुए उस समय द्विवेदी जी खड़ीबोली के नवजात शिशु को पाल-

पोषकर जीवित रखने का करुण प्रयत्न कर रहे थे। उस समय इस निर्बोध शिशु की दयनीय दशा थी। व्रजभाषा के पक्षपाती इसका घोर विरोध करके इसे साहित्य-क्षेत्र में अवतरित ही नहीं होने देना चाहते थे। ऐसे संकट के समय में ठाकुर साहब ने खड़ीबोली को अपनाकर अपनी प्रतिभा से यह सिद्ध कर दिया कि खड़ीबोली में भी व्रजभाषा की भाँति काव्य का कलेवर मार्दव्य, माधुर्य और परिमार्जन से युक्त हो सकता है। ठाकुर साहब की लेखनी ने यह दिखला दिया कि घनाक्षरी, सवैया आदि परम्परागत छन्दों में भी, खड़ीबोली में, सम्यक्-रूपेण उसी माधुर्य की प्रतिष्ठा की जा सकती है जो हमें व्रजभाषा में प्राप्त होता है। ठाकुर साहब की भाषा में सरलता और सरसता दो प्रधान गुण हैं। यह साफ सुथरी और मँजी हुई होती है। प्रत्येक शब्द नपा-तुला और व्यवहारिक होता है। कहीं भी दुरूहता और कर्ण-कटुता का नाम नहीं है। ठाकुर साहब ने ऐसे शब्दों का चयन किया है जो हमारे नित्यप्रति के जीवन में व्यवहृत होते हैं। भाषा के सम्बन्ध में ठाकुर साहब का विचार है कि "सरस तो कविता होना ही चाहिए किन्तु उसे सरल भी होना चाहिए। रस उसका प्राण है, तो सरलता उसका सबसे बड़ा गुण है। सरलता के अभाव में सरसता भी मुँह छिपा लेती है।" इस भाषा-सम्बन्धी विचार के अतिरिक्त ठाकुर साहब की भाषा-सरलता का एक और कारण है। इन्होंने काव्य-भाषा के लिये लोक-भाषा को अपनाया है। नित्यप्रति के जीवन में खड़ी-बोली के जिस रूप को आप व्यवहृत करते हैं उसी को काव्य में भी आपने प्रयुक्त किया है। लोक-भाषा होने के कारण ठाकुर साहब की भाषा में उर्दू शब्दों और मुहावरों की भरमार है। इसमें वही सारल्य है जो हरिऔध की सीधी-सादी भाषा में। अन्तर केवल इतना है कि ठाकुर साहब ने मुहावरेदानी प्रदर्शित करने के

लिये महावरों का प्रयोग नही किया है। ठाकुर साहब की भाषा के नमूने देखिए:—

(अ) थी खिली पलाश-द्रुमाली सी, संध्या-सुहासिनी की लाली।
मिल गयी प्रभाली थी दोनो, आनेवाली जानेवाली॥

(आ) है हवा डोलती रहती, फूलों की डाली-डाली।
होती है कभी न खाली, उनकी मदिरा प्याली॥

ठाकुर साहब ने व्रजभाषा में भी रचनाएँ की है और इसमें भी इन्हे पर्याप्त सफलता मिली है। आपकी वर्णनात्मक शैली अत्यन्त मनोहर है। दृश्य-चित्रण में आप एक निपुण कलाकार है। भावुकता तो आपके शब्द-शब्द मे फूट पड़ती है। अलंकार-योजना में आप रीति कवियों के अनुयायी है। नवीनता के आधुनिक युग मे अभी तक आप 'मुखशशि' के 'कीर्ति-कौमुदी' ही की छटा दिखलाते है, उस पर कोई नवीन रोगन लगाकर आधुनिकता का रंग नहीं ला पाते। और ला पाएँ कैसे ? चुलबुलाहट के इस युग में आपकी काव्यात्मा प्राचीनता का गाम्भीर्य जो लिये हुए है। आपने घनाक्षरी सवैया इत्यादि छन्दों का उपयोग किया है।

विविधि:—

ठाकुर साहब की प्रतिभा विकासोन्मुखी है इसलिये इनके काव्यात्मा का पूर्ण परिचय देना असम्भव है। सक्षेप में केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि आपके काव्य में प्रेमाराधना और दलित-मानवता के प्रति सहृदयता की प्रवृत्तियाँ प्रधान है। आपकी प्रारम्भिक रचनाओं में कृष्णभक्ति की झलक पाई जाती है। इसमें नवीन वर्णन-शैली मे कृष्ण के पावन चरित्र का लोकोपयोगी दृष्टि से चित्रण किया गया है। इसमे कवि भावुक भक्त के रूप में

दिखलाई पड़ता है। तदुपरान्त वह 'कादम्बिनी' में पहुँच-कर प्रकृत-प्रेमी बन जाता है और उसमें कुछ-कुछ रहस्यवाद की झलक आ जाती है; उसे प्राकृतिक दृश्यों में अनन्त, अव्यक्त सत्ता का आभास मिलता है और वह रहस्यवादी न होकर 'पृथ्वी पर ही मेरे पद हों, दूर सदा आकाश रहे' कहकर भक्त ही बना रहता है। वह 'अनन्त द्युतिमय प्रकाश' का 'उदय अस्त तक साथी' रहकर 'मैं तुममें ही मिल जाता हूँ होता है जहाँ सवेरा' कहकर सन्तुष्ट हो जाता है।

भक्ति के अतिरिक्त कवि समाज के दलित मानवता के प्रति सहृदयता से परिपूर्ण है। 'मानवी' में कवि का ध्यान संसार की कठोर सत्यता की ओर आकर्षित होता है। इसमें शताब्दियों की पद-दलिता हिन्दू-नारी के करुण-जीवन का हृदयग्राही चित्रण मिलता है:—

ढलती है नहीं निशा तेरी, है कभी प्रभात नहीं होता।
तेरे सुहाग का सुख वाले, आजीवन रहना है सोता॥
सब आशाएँ अभिलाषाएँ, उर कारागृह में बंद हुईं।
तेरे मन की दुख-ज्वालाएँ मेरे मन में छंद हुईं॥

पं० रामनरेश त्रिपाठी

परिचयः—

स्वच्छन्द कथानकों के चतुर कलाकार पं० रामनरेश त्रिपाठी का जन्म सं० १९४६ में कोइरीपुर ग्राम, जिला जौनपुर में हुआ। स्वदेश-भक्ति और काव्य-प्रेम का बीजांकुर आपके मानस-क्षेत्र में बाल्यकाल से ही प्रतिलक्षित होता था। आप अपना सारा समय साहित्य-सेवा करके राष्ट्रोत्थान करनेवाले व्यक्तियों में है। अँगरेज़ी, फारसी, उर्दू और संस्कृत के आप प्रगाढ़ विद्वान है।

आपने बड़े परिश्रम और यत्न से हिन्दी के 'ग्राम-गीत' का संग्रह, संकलन और सम्पादन किया है। इसके लिये आपको बड़ा धन व्यय करना पड़ा और भारत के विभिन्न प्रान्तों की यात्राएँ करनी पड़ी। 'कविता कौमुदी' के वृहद् ग्रन्थ में हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और बँगला के कवियों का संग्रह है। 'स्वप्न', 'पथिक', 'मिलन' आपके तीन खण्ड काव्य है। 'मानसी' (काव्य-संग्रह), 'प्रेम-लोक' (नाटक) और तुलसीदास और उनकी कविता (समालोचना) आपकी अन्य कृतियाँ है।

भाषा तथा शैलीः—

त्रिपाठी जी खड़ी बोली के एक श्रेष्ठ कवि है। आपने साहित्य के विविधि क्षेत्रों मे अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया है। काव्य, नाटक, समालोचना तथा कहानियाँ सभी कुछ आपने लिखा है। आप खड़ीबोली के उत्कृष्टतम कलाकारों में है। खड़ीबोली के कवियों में आपका एक विशिष्ट स्थान है। भाषा के

सम्बन्ध में आप शुद्ध खड़ीबोली के पक्षपाती हैं। आपकी भाषा साफ, सुथरी और परिमार्जित होती है। उसमें संस्कृत के तत्सम पदावली की अधिकता है। ऐसा होने पर भी आपके काव्य में दुरूहता नहीं आने पायी है। उसमें प्रसाद गुण पाया जाता है। आपके काव्य में माधुर्य की प्रचुर मात्रा मिलती है, परन्तु उपदेशात्मक होने के कारण यह माधुर्य फीका पड़ गया है। बात यह है कि मानव-हृदय काव्य-क्षेत्र में उपदेश के सहृदय वृक्ष की शीतल छाया में विचरण करने से स्वभावत: हिचकता है। उसे तो कल्पना के विस्तृत-भूमि में स्वच्छन्द विचरण करना ही रुचिकर लगता है। इसलिये चतुर कलाकार अपने काव्य में उपदेशांकुर को छिपाये रखता है जिसे पाठक काव्यानन्द के अनन्तर स्वयं ढूँढ़ लेता है। त्रिपाठी जी अपने काव्य-क्षेत्र में पाठकों के लिये पहले ही से उपदेश का महान् वृक्ष आरोपित कर देते हैं। यही इनके कला की महान् त्रुटि है। परन्तु इसका कारण है त्रिपाठी जी के हृदय की गहन राष्ट्रीयता और आदर्शवादिता। जहाँ आपने मानव-कर्तव्याकर्तव्य की ओर लोगों को बरबश खींचने का प्रयत्न किया है वहाँ आपकी भाषा में ओजगुण का आभास मिलता है। ऐसे स्थलों पर त्रिपाठी जी की शब्दावली मोती की लड़ी की भाँति श्वेत वस्त्र-खण्ड पर झलकती है। आपकी वाक्यरचना व्यवस्थित और व्याकरण-सम्मत होती है। काव्य-क्षेत्र में, जहाँ अधिकतर कवि स्वच्छन्दता के पक्षपाती हैं, आप व्याकरण की क्षुद्रातिक्षुद्र त्रुटि को भी नहीं देखना चाहते हैं। 'कर रहा है' के स्थान पर 'कर रहा' आपको खटक उठता है। आपकी भाषा का नमूना देखिये:—

करुणामय कर कृपा खोल दो, मेरे विमल विवेक-विलोचन।
मेरे जीवन में ऋषियों का, तप भर दो भव-भीति-विमोचन॥

आर्यों के आदर्श-मार्ग पर हो मेरा प्रयत्न अवलम्बित।
मेरे वहिंजगत में मेरा अन्तर्जीवन हो प्रतिविम्वित॥

त्रिपाठी जी के काव्य की अन्तरात्मा:—

ऊपर बतलाया जा चुका है कि त्रिपाठी जी एक स्वदेश-भक्त व्यक्ति है। राष्ट्रीयता और स्वदेश-भक्ति की भावनाएँ आपके काव्य में भरी हुई है। संतप्त मानवता ने आपके राष्ट्रीय हृदय को मर्म-स्पर्शी आघात दिया, अस्तु लोक-कल्याण की भावना, सुन्दर कल्पना के साहचर्य से आदर्शवादिता का रमणीय रूप धारण करके आपके काव्यों में अभिव्यक्त हुई। आपने ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथाओं पर अपने कथानकों का निर्माण न करके स्वच्छन्द कल्पना-जन्य काव्य-वस्तु का 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' में उत्पादन किया है। इन तीनों खण्ड-काव्यों में आपने नवीन कथानक का उत्पादन करके स्वच्छन्दतावाद का पथ ग्रहण किया है। इस नवीन कथा-वस्तु का निर्माण सभी स्थितियों में मानव-सेवा और देश-सेवा का श्रेष्ठतम कार्य करने के लिये ही किया गया है। 'स्वप्न' और 'पथिक' इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

स्वदेश-भक्ति और राष्ट्रीयता की भावनाएँ आपके काव्य को आदर्शवादिता और उपदेशात्मकता की ओर स्वभावत' ही खीच लाई है। आपने मानव-जाति को देश-प्रेम और मानवता के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने का उपदेश दिया है:—

जिस पर गिरकर उदर-दरी से तुमने जन्म लिया है।
जिसका खाकर अन्न सुधा सम नीर समीर पिया है॥
वह सनेह की मूर्ति दयामयि माता-तुल्य मही है।
उसके प्रति कर्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नही है?

मार्ग-पतित असहाय किसी मानव का भार उठा के।
पीठ पवित्र हुई क्या सुख से उसे सदन पहुँचा के?

कहना न होगा कि अत्यधिक उपदेशात्मकता काव्य का एक महान् दोष है, परन्तु फिर भी त्रिपाठी जी का प्रयत्न स्तुत्य है। वे जानते हैं कि जिस जाति और देश में हमने जन्म लिया है उसके प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है। त्रिपाठी जी के काव्य में सुन्दर और रमणीय प्रकृति चित्रण भी प्रचुरता से उपलब्ध होता है। एक उदाहरण लीजिए:—

चारों ओर तुषार-धवल पर्वत चुपचाप खड़ा है।
प्रकृति-मुकुर-सा एक सरोवर उसके मध्य जड़ा है॥
तट पर एक शिला सुन्दर है, बैठ वहाँ तुम जाते।
तो क्या एक घड़ी न किसी के दृग, मन, प्राण जुड़ाते?

सुश्री महादेवी वर्मा

परिचयः—

"मुझ से हो तो आज तुम्ही मै बन दुःख की घड़ियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत, बिखरी पंखुरियाँ देखो॥"

इन शब्दों मे मीरा के 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' की रहस्यमयी अभिव्यक्ति को व्यंजित करनेवाली सुश्री महादेवी वर्मा हिन्दी-साहित्य की महान् विभूतियों में है। आपका जन्म सं० १९६४ में फरुखाबाद में हुआ। आपकी शिक्षा-दीक्षा आधुनिक जाग्रत महिलाओं की भाँति हुई। आपने प्रयाग विश्व-विद्यालय से एम० ए० पास किया और आजकल प्रयाग महिला-विद्यापीठ की आचार्या है। आप देश और समाज से प्रेम करनेवाली सुशिक्षित इनीगिनी जाग्रत महिलाओं में से है। आपकी प्रारम्भिक रचनाएँ सामाजिक और राष्ट्रीय होती थी, परन्तु समय की गति के साथ उनमें परिवर्तन हुआ। इस समय आप रहस्यवाद की प्रधान और प्रतिनिधि कवियित्री है।

आपकी रचनाओं मे नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य-गीत और यामा अधिक प्रसिद्ध है।

भाषा तथा शैलीः—

हिन्दी काव्य-जगत में मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि खड़ीबोली के प्रधान कवियों ने खड़ीबोली के जिस परिमार्जित रूप को व्यवहृत किया वह परिष्कृत-कलेवरा होते हुए भी कोमलता और मृदुलता से हीन थी। कारण यह है कि उस समय खड़ीबोली के

निखरे हुए रूप का पोषण और वृद्धि करना ही कवियों का ध्येय था। दूसरी बात यह है कि भाषा भावानुगामिनी होती है और उसका ऐसा ही होना उचित है। तत्कालीन कवियों की काव्य-सामग्री बाह्य-जगत की वस्तु थी। आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में रहस्यवाद और छायावाद की अवतारणा हुई जिसमें काव्य-वस्तु अन्तर्जगत से सम्बन्ध रखता है. अस्तु, इसमें कवि को अपनी भावुकता, सरसता और मृदुलता की अभिव्यक्ति करनी होती है। इसलिये कवि-हृदय की यह भावुकता भाषा को सरस, कोमल और मृदुल बना देती है। सुश्री वर्मा जी की भाषा इसी प्रकार की है। इसमें हमें खड़ी बोली का सुकुमार कलेवर प्राप्त होता है। संस्कृत के कोमल कान्त पदावली का आधिक्य इसमें स्वभावत मिलता है क्योंकि कवि को सुकुमार भावनाओं की अभिव्यक्ति करनी होती है। दूसरे, विदेशी भाषा के एक भी शब्द का प्रयोग इसमें नहीं हुआ है। छायावाद और रहस्यवाद में वैसे भी उर्दू-फ़ारसी के शब्दों के लिए स्थान नहीं है क्योंकि उनके प्रयोग से भाषा तथा भाव दोनों का सौन्दर्य जाता रहता है। सुश्री वर्मा जी की भाषा में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। सुश्री वर्मा जी की पदावली कोमल और कान्त है। संयुक्ताक्षर और कर्णकटु शब्द नहीं हैं और न हरिऔध की भाषा की भांति प्राञ्जल दीर्घकाय संस्कृत पदावली ही पाई जाती है। छन्द भी सभी आधुनिक हैं। 'गीत' का उन्होंने सुन्दर प्रयोग किया है।

सुश्री वर्माजी की भाषा का नमूना देखिए:—

इन कनक रश्मियों से अथाह, लेता हिलोर तम-सिन्धु जाग,

बुद्बुद से बह चलते अपार उसमें विहगों के मधुर-राग,

बनती, प्रवाल का मृदुल कूल, जो क्षितिज-रेखा थी कुहर-म्लान।

विविधि:—

काव्य का प्रधान उद्देश्य है मानव-हृत्-तंत्री को निनादित कर देना। काव्य के लिये यह आवश्यक है कि वह कलापक्ष को अपनाए हुए भी लोक-रंजन की वस्तु हो। साथ ही साथ 'केवल मनोरंजन न कवि कर्म होना चाहिये।' काव्य में मानव-हृदय की झाँकी होती है, उसमें मनुष्य का जीवन होता है। सत्काव्य में प्रसाद गुण का होना अनिवार्य है। यदि काव्य को पढ़कर मानव-हृदय में कम्पन, स्पन्दन और विचार-धारा नही हुई तो वह काव्य व्यर्थ ही है। खेद के साथ कहना पड़ता है आधुनिक छायावादी कवियो मे काव्य का स्वाभाविक गुण अत्यन्त न्यून्यांश में पाया जाता है और बहुत से समालोचको का मत है कि युगान्तर के वाद आधुनिक काव्य का वहुत-सा अंश कूड़ा-कर्कट की वस्तु समझी जायगी। और यह वात है भी ठीक। क्या सूरसागर, रामचरित-मानस रामचन्द्रिका की भाँति आधुनिक कवियों की कृतियाँ चिरजीवी रह सकेंगी?

सुश्री वर्मा जी की साहित्यिक कृतियाँ भी आधुनिक छाया-वादियों की भाँति दुरूहता लिये हुए है। इन्होंने हृदय के सूक्ष्मतम कोमल भावों को करुण शब्दो मे व्यक्त किया है। दार्शनिक भावों की लाक्षणिक अभिव्यंजना वस्तु-जगत से विछिन्न होकर अन्त-र्जगत के अदृश्य और अस्पृश्य भावोद्रेक को लिये हुए जब संस्कृत के परिष्कृत आवरण में प्रतिलक्षित होती है तो सुश्री वर्मा जी का काव्य हृदय की वस्तु न होकर मस्तिष्क की दुरूह वस्तु वन जाता है। एक उदाहरण लीजिये:—

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!
और होंगे चरण हारे।

अन्य हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे,
दुखव्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद।

सुश्री वर्मा जी ने कबीर की आध्यात्मिकता को मीरा की संगीत-मयी भाषा में व्यक्त किया है। मीरा की भाँति वर्मा जी मे भी प्रियतम के विरह में व्यथा है। मीरा प्रभु के सगुण रूप की उपासिका है, सुश्री वर्मा जी का प्रियतम निर्गुण और अव्यक्त है, 'वे चुपके से मानस में, आ छिपते उच्छ्वासें बन', 'वे आभा बन खो जाते शशि-किरणों के उलझन में' और 'वे स्मृति बनकर प्राणों में, खटका करते है निशि दिन।' आप कण-कण मे विश्व के नियन्ता को देखती है। आपका संसार करुणा की कठोर शिला-खण्डों से निर्मित हुआ है जिसमें से आप प्रियतम की आराधना में अश्रु-निर्झर प्रवाहित किया करती है.—

श्वासें कहतीं आता प्रिय, निश्वास बताते वह जाता;
आँखो ने समझा अनजाना, उर कहता चिर यह नाता;
सुधि से सुन वह स्वप्न सजीला क्षण-क्षण नूतन बन आता;
दुःख उलझन में राह न पाता सुख दृगजल में बह जाता।

कवियित्री सुभद्राकुमारी चौहान

परिचयः—

हिन्दी भाषा की कोकिलाओं में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का स्थान बड़े महत्व का है। हिन्दी-साहित्य में मीरा के अनन्तर आप पहली कवियित्री है जो मानव-हृदय को काव्य के मृदुल तंत्रियों के झंकार से निनादित कर देती है। आपका जन्म सं० १९६१ में प्रयाग में हुआ था। क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल में आपने शिक्षा प्राप्त की। सं० १९७६ में खण्डवा के ठाकुर लक्ष्मणसिंह के साथ आपका परिणय हुआ। देश-प्रेम से आपका हृदय बचपन से ही ओत-प्रोत था। असहयोग आन्दोलन में आपने पढ़ना-लिखना छोड़कर राष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। तब से आप लौकिक और साहित्यिक दोनों रूपों मे मातृ-भूमि की सेवाएँ कर रही है। आप एक सुशिक्षित सभ्य और उदार महिला है। आपको 'मुकुल' नामक पुस्तक पर ५०० रू० का सेकसरिया पुरस्कार मिल चुका है।

भाषा तथा शैलीः—

कुछ कवि साहित्य-क्षेत्र में नवीन शैली के साथ अवतरित होते हैं और कुछ प्राचीन या सामयिक आचार्यों का अनुसरण करते है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक कवि की कोई अपनी विशेष शैली हो। श्रीमती चौहान जी की भी कोई अपनी विशेष शैली नही है। भाषा में भी कोई प्रधान विशेषता नही है। इन्होंने उसी भाषा को प्रयुक्त किया है जिसे आजकल के अधिकाधिक कवि प्रयुक्त कर रहे है और जो खड़ीबोली का 'मिश्रित रूप' कहा जा सकता है। इसमें हिन्दी-उर्दू के शब्दों का

विचित्र मिश्रण है। एक ओर तो संस्कृत की कोमल कान्त पदावली तो दूसरी ओर अरबी-फारसी के बेदाग शब्द! ईश्वर ही जाने कि हिन्दुस्तानी का यह दुधमुहाँ दोगला हिन्दी-साहित्य के वक्षस्थल पर कब तक मूँग दलेगा? लेकिन यह तो निसंकोच कहा जा सकता है कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता का यह भाषा-सम्बन्धी अप्राकृतिक प्रयत्न हिन्दी-भारती के कान्त कलेवर पर चेचक का चिह्न छोड़ जायगा!

हाँ, तो चौहान जी की भाषा में हिन्दी-उर्दू का मिश्रण है। इसमें सरलता और व्यवहारिकता है। हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं में से चलते हुए शब्दों का चयन श्रीमती चौहान ने किया है।

नमूना देखते चलिये.—

सूखी सी अधखिली कली है, परिमल नहीं, पराग नहीं।
किन्तु कुटिल भौंरों के चुम्बन का है इन पर दाग नहीं॥

उपर्युक्त उद्धरण में परिमल-पराग-हीन अधखिली कली पर कुटिल भौंरों के चुम्बन का 'दाग' शायद कली के परिमार्जन को मटियामेट कर दे। लेकिन ऐसा लोग समझते नहीं, क्योंकि पुरानी संस्कृति तो अस्त-व्यस्त हो रही है न! नया जमाना है!

श्रीमती चौहान जी की दूसरी विशेषता है भाषा की अलंकार-हीनता। नारी-जागरण के इस युग में श्रीमती चौहान की भाषा-कामिनी ने भी आधुनिक रमणियों की भाँति, आभूषणों को ठुकरा दिया है। छन्दों के चयन में भी श्रीमती चौहान व्यवहारिकतावादी हैं और आजकल के सीधे-सादे छन्दों को अपनाया है। लगे हाथों आपकी भाषा का एक और नमूना देखते चलिए:—

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं, बिजली भर दे वह छन्द नहीं;
है कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं, फिर हमें बतावे कौन हन्त!
वीरों का कैसा हो वसन्त!

विविधिः—

नारी-हृदय का जितना सफल चित्रण कवियित्री कर सकती है उतना कवि नही। पुरुष क्या जाने नारी के गूढ़ हृदय का रहस्य ? आधुनिक कवियित्रियों में सुश्री वर्मा जी और श्रीमती चौहान जी से हिन्दी-संसार को नारी-हृदय और नारी-मनोविज्ञान के कवित्व-मय अभिव्यंजन की आशाएँ थी। सुश्री वर्मा जी पार्थिव संसार को छोड़कर रहस्यवाद के नीरव निलय में निवास करती है, परन्तु श्रीमती चौहान ने भूमि पर रहना ही पसन्द किया है। अस्तु, श्रीमती चौहान के काव्य की पृष्ठ-भूमि है प्रणय, परिवार और देश। स्त्री-जीवन प्रणय के मार्दल्य से प्रारम्भ होता है। श्रीमती चौहान जी के प्रेम का आदर्श है भारतीय सभ्यता का उच्चतम उज्वल स्त्रीत्व। 'थी मेरा आदर्श बालपन से तुम मानिनि राधे' कहकर वे राधिका से कृष्ण पर सम्मोहन-विधि ज्ञात करने को उत्सुक है। भारतीय नारी प्रियतम के चलते समय 'जा कहते रुकती है जबान मै कैसे तुमसे कहूँ रहो' और उसके परकीया-गमन पर—

> 'खूनी भाव उठे उसके प्रति, जो हो प्रिय का प्यारा,
> उसके लिये हृदय यह मेरा बन जाता हत्यारा।'

ही अपना आदर्श रखती है। वियोग में वह कहती है—

> हे काले काले बादल, ठहरो तुम बरस न जाना।
> मेरी दुःखिया आँखो से, देखो मत होड लगाना॥

भारतीय नारी आत्म-समर्पण अपना परम कर्तव्य समझती है और 'पूजा और पुजापा प्रभुवर इसी पुजारिन को समझो' की प्रार्थना करके, प्रियतम चाहे अपनावे या ठुकरावे, वह आत्म-समर्पण कर ही देती है।

प्रणय के अनन्तर पारिवारिक जीवन आता है। श्रीमती चौहान की परिवार-सम्बन्धिनी कविताएँ उनके पारिवारिक अनुभूति की महान् कृतियाँ हैं। 'मेरा नया बचपन' शीर्षक कविता में मातृ-हृदय का सरल, मधुर और मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

परिवार के पश्चात् देश आता है। भारतीय नारियाँ परिवार के परिधि में ही रह जाती हैं। परन्तु श्रीमती चौहान ने अपने कार्य-कलाप तथा काव्य-रचना में उत्कट देश-प्रेम का परिचय दिया है। 'झाँसी की रानी' शीर्षक कविता आजकल कोने-कोने में 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी' की झंकार कर रही है। 'वीरों का कैसा हो वसन्त' यदि आप जानना चाहते हैं तो श्रीमती चौहान के राष्ट्रीय हृदय से पूछिये। वे कहेंगी—

विजयिनी माँ के वीर सुपुत्र, पाप से असहयोग लें ठान।
गुंजा डालें स्वराज्य की तान और सब हों जावें बलिदान॥

पं० सुमित्रानन्दन पंत

परिचयः—

पंत जी का जन्म सं० १६५७ मे कौसानी, जिला अलमोड़ा में हुआ। आपने कौसानी के पर्वतीय प्रदेश में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की जो एक ओर तो लौकिक शिक्षा के रूप में थी और दूसरी ओर प्रकृति के शिक्षण-शाला से संगृहीत की गई थी। यही कारण है कि आपकी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रचुरता है। आपने काशी के जयनारायण हाई स्कूल से स्कूल लीविङ्ग और प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कालेज से एफ० ए० का प्रथम भाग पास किया। कवित्व-प्रेम और भावुकता वाल्यावस्था से ही थी, आप पढ़ना-लिखना छोड़कर

मै सृष्टि एक रच रहा नवल, भावी मानव के हित भीतर।
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे, मिल सका नही जग मे बाहर॥

की भावना लिये हुए जन-भीरु हृदय को संसार की झंझा से बचाने के निमित्त भगवती सरस्वती के शीतल शरण में आये। ग्रन्थि, पल्लव, गुञ्जन, उच्छ्वास, वीणा, पल्लविनी, युगान्त और ज्योत्स्ना आपकी प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियाँ है।

भाषा तथा शैलीः—

पंत जी छायावाद के प्रतिनिधि कवि माने जाते है। छायावादी कवि प्रकृति को आलम्बन के रूप में लेता है। छायावादियों के लिये प्रकृति मानवीय भावनाओं के उद्दीपन की सामग्री नही है। छायावाद के पूर्ववर्ती कवियों में शास्त्रीय पद्धति के अनुसार प्रकृति मानवीय हर्ष, विमर्ष, शोक, रुदन आदि वृत्तियो को व्यक्त करने के

लिये केवल अवलम्बन का काम देती थी परन्तु छायावादियों ने प्रकृति के अंग-प्रत्यंग, कण-कण में उसी हर्ष-उल्लास, शोक-उन्माद व्याकुलता और सहृदयता का आभास पाया जो हमें मानव-हृदय में मिलता हैं। छायावादी प्रकृति के कण-कण में अपने प्रियतम की 'छाया' पाता है। अस्तु, उसके हृदयोद्‌गार में उसके हृदय की कोमलता और भावुकता फूट पड़ती है। इसलिये स्वभावतः छायावादी कविता भावुक, कोमल और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता से ओत-प्रोत होती है। गीतात्मक होने के कारण इसकी शब्दावली मधुर और मृदुल होती है। छन्द-चयन में भी कवि को दीर्घकाय छन्दों से प्रयोजन नहीं रहता। उसका हृदय 'भूषण' की घनाक्षरी रूपी ज्वालामुखी से उच्छ्वासित न होकर समीर-विक्षुब्ध किसी निर्मल सर के छोटे-छोटे बुदबुदों में प्रकट होता है। पंत जी के भाषा की यही विशेषता है। संस्कृत के मृदुल शब्दों में लाक्षणिक अर्थों से संयुक्त शब्दावली के पंत जी अनुपम शब्दशिल्पी हैं। विशेषण विपर्यय, लाक्षणिक वैचित्र्य और साम्य की कल्पना-कष्ट भावना पंत जी भाषा की विशेषताएँ हैं। दो एक नमूने लीजिये —

(क) चाँदनी का स्वभाव में वास। विचारों में बच्चों का साँस।

(ग) काली कोकिल—सुलगा उर में, स्वरमयी वेदना का अंगार,
आया वसंत, घोषित दिगंत, करती, भर पावक की पुकार।

पंत जी की भाषा कोमल-कान्त-कलेवरा होते हुए भी संस्कृत की अप्रचलित शब्दावली का पुट लिये हुए है। पंत जी ने बहुत से ऐसे शब्दों को प्रयुक्त किया है जो अभी संस्कृत-भाषा से हिन्दी में नहीं आ पाये हैं। पंत जी विदेशी शब्दों को अपने शब्द मण्डली में स्थान देने के पक्षपाती नहीं हैं। आप 'पानी पीकर घर पूछना' को 'वारि पी घर पूछना' कर देनेवाले कट्टर हिन्दी-वादियों में हैं। व्याकरण के नियमों का आपने यत्र-तत्र उल्लंघन भी किया

है और शब्दों के लिङ्ग-वचन की ओर चिन्त्य अवहेलना का प्रदर्शन किया है। आपकी भाषा पर अँगरेजी की छाया भी प्रतिलक्षित होती है। अँगरेजी मे जिस प्रकार कुछ कवि भाषा की अभिव्यंजन-शीलता को ही काव्य का चरम उत्कर्ष समझते है उसी प्रकार आप भी हिन्दी मे चित्रमयी भाषा के पक्षपाती है। धूल की की ढेरी, मधुमय गान, मर्म-पीड़ा के हास, मधुर दाह, मांसल रंग, स्वर-मयी वेदना, इत्यादि विचित्र शब्दावली अँगरेजी कवियो के वाक्यांशो का अप्राकृतिक तथा अनैसर्गिक हिन्दी रूपान्तर ही है। बात यह है कि इधर कुछ दिनो से हिन्दी कवियो मे चित्रमयी भाषा मे हृदय के मधुमय वेदनाभिव्यक्ति की चलन चल पड़ी है। छायावादी कवि इस प्रकार के रंग-बिरंगे आच्छादनो से आवेष्टित भाषा को ही काव्य समझ बैठे है। पंत जी की इस प्रकार की चित्रमयी भाषा का एक और उदाहरण लीजिये.—

> मारुत ने जिसकी अलकों मे चचल चुबन उलझाया।
> अधकार का अलसित अचल, अब द्रुत ओढेगा संसार।
> जहाँ स्वप्न सजते शृंगार।

विविधि—

पत जी के काव्य की बहुमुखी प्रवृत्तियों में से कुछेक का निरूपण ही इस छोटे से मे लेख सम्भव है। पंत जी के शब्दों मे ही "वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओ मे प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी न किसी रूप में वर्तमान है।" प्रकृति-निरीक्षण ही मे पंत जी के हृदय की भावुकता आश्रय पाती है और उसी मे उनकी सुकुमार कल्पना का प्रस्फुटन हो सका है। साधारणतया पंत जी ने प्रकृति के सुन्दर और कल्याणमय रूप को ही अपने काव्यों मे व्यक्त किया है। केवल 'परिवर्तन' मे उन्हे प्रकृति के उग्र रूप का दर्शन हुआ है। प्रकृति को उन्होंने अपने से अलग एक सजीव

सत्ता रखनेवाली नारी के रूप में देखा है। 'छाया' शीर्षक कविता में वे कहते हैं—

> हाँ सखि, आओ बांह खोलकर लगकर गले जुड़ा लें प्रान !
> फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अन्तर्धान !

तदनन्तर विवेकानन्द और रामानन्द के दार्शनिक विचारों के अध्ययन से कवि का प्रकृति-सुख-स्वप्न टूटता है और वह अधिक चिंतनशील और दार्शनिक बन जाता है:—

> 'खोलता इधर जन्म लोचन,
> मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण'

इत्यादि भावनाएँ इस तत्व की द्योतक हैं कि कवि को संसार के नग्न सत्य का अनुभव हो गया है, उसे सुन्दर सुमन के साथ-साथ तीक्ष्ण कंटक का आभास विश्व-वाटिका में मिलने लगा है। संसार के कठोर सत्य का क्रमिक विकास है मानव-जीवन के प्रति आकर्षण। पंत जी मानव-जीवन का जो रूप श्रेष्ठ समझते हैं वह हमें 'सुख-दुःख' शीर्षक कविता में उपलब्ध होता है.—

> सुख-दुःख के मधुर-मिलन से, यह जीवन हो परिपूरन;
> फिर घन में ओझल हो शशि, फिर शशि से ओझल हो घन।

तदनन्तर कवि के भावना-क्षेत्र का व्यापक विकास हो उठता है। वह मानव-जीवन की गहराई की थाह 'गुंजन' में पा चुका है, 'युगान्त' में वह देश के वर्तमान जीवन में प्रविष्ट होता है। उसमें कहीं परिवर्तन की गम्भीर लहर उठती है तो कहीं श्रमजीवियों के प्रति अपार श्रद्धा !

> ये नाप रहे निज घर का मग
> कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
> भारी है जीवन, भारी पग !

यही नहीं, वह 'युगान्त' में एक प्रगतिवादी के रूप में प्रकट होता है:—

झरे जाति कुल-वर्ण-पर्ण घन।
अंध नीड़ से रूढ़-रीति छन।

इस प्रकार छायावाद के गहन गर्त्त से निकल कर पंत जी को मानव-जीवन के सन्निकट आते देख सन्तोष होता है:—

सोई थी तू स्वप्न-नीड में, पंखो के सुख मे छिपकर,
झूम रहे थे, घूम द्वार पर, प्रहरी से जुगुनू नाना।

इस स्वप्न-नीड़ से निकलकर अब पंत जी लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत एक सहृदय कवि के रूप में दिखाई पड़ते है—

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अन्धकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!

उदीयमान सुकवि डा० रामकुमार वर्मा

परिचय:—

"धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं।
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं॥"

इन कोमल परन्तु वेदना-मय शब्दों में कबीर के रहस्यवाद की गूढ़ आत्मा को पुनः झंकृत करनेवाले उदीयमान सुकवि डा० रामकुमार वर्मा एक ही साथ कवि, समालोचक और नाट्यकार हैं। आप का जन्म सं० १६६२ में मध्यप्रान्त के सागर जिले में हुआ। आप बाल्यावस्था से काव्य-रचना में संलग्न हो गये थे। 'देश-सेवा' शीर्षक कविता पर आपकी बाल-लेखनी पुरस्कृत हो चुकी थी। आपने प्रयाग विश्व-विद्यालय से एम० ए० किया। इस समय आप वहीं हिंदी के अध्यापक हैं। आपकी सुप्रसिद्ध रचना 'चित्ररेखा' पर २००० रु० का देव-पुरस्कार और 'चन्द्रकिरन' पर चक्रधर पुरस्कार आपको मिल चुका है। 'अञ्जलि', 'रूपराशि', 'अभिशाप', 'कबीर का रहस्यवाद', 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', 'पृथ्वीराज की आँखें' और 'रेशमी टाई' आपकी कुछ अन्य लब्ध-प्रतिष्ठ कृतियाँ हैं।

भाषा तथा शैली:—

छायावादी और रहस्यवादी कवियों के हाथ में पड़कर द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मक भाषा के रूप में अधिकाधिक मार्दव और परिमार्जन का समावेश हुआ। द्विवेदी-काल की खड़ी बोली दिन-प्रतिदिन मँज रही थी। उस समय उसमें इतनी क्षमता नहीं थी कि वह कवि के कोमल हृदयोद्गार को कोमलता के साथ

व्यक्त कर सके। यद्यपि उस समय खड़ीबोली के उत्कृष्ट रूप में कविता करनेवाले मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि दो एक श्रेष्ठ कवियो ने कुछ छायावादी पदो की रचना की थी, परन्तु उस भाषा में मार्दव और परिमार्जन का वह सुन्दर रूप नही प्रस्फुटित हुआ था जैसा कि हम आजकल के छायावादी और रहस्यवादी कवियो मे पाते है। दो-एक उदाहरण लीजिये:—

निकल रही है उर से आह, ताक रहे सब तेरी राह।
चाचक खडा चोच खोले है, संपुट खोले सीप खडी,
मैं अपना घट लिए खडा हूँ, अपनी अपनी हमे पडी।

(मैथिलीशरण गुप्त)

मैं ससीम, असीम सुख से, सीचकर संसार सारा।
साँस की विरुदावली से, गा रहा हूँ यश तुम्हारा।
पर तुम्हें अब कौन स्वर, स्वरकार! मेरे पास लाये?
भूलकर भी तुम न आये।

(रामकुमार वर्मा)

डाक्टर रामकुमार वर्मा आधुनिक छायावादी और रहस्यवादियों मे एक गणमान्य कवि है। वर्मा जी की भाषा में वही माधुर्य और सौन्दर्य है जो आधुनिक छायावादी कवियो में है। माधुर्य और मार्दव्य से सयुक्त वर्मा जी की भाषा में एक और विशेषता है जो कम कवियों में पाई जाती है। छायावादी कवि अव्यक्त और अदृश्य प्रियतम के प्रति लाक्षणिक और सांकेतिक भाषा में अपने हृदयोच्छ्वास को व्यक्त करते है। अमूर्त आलम्बन के प्रति हृदय की अव्यवस्थित और अवास्तविक भावनाओ को व्यक्त करनेवाली, विशेषण-विपर्यय-संयुक्त लाक्षणिक-पदावली के भार से दबी हुई भाषा, दुरूह शब्दावली के कारण, बहुत से आधुनिक कवियों की रचनाओ में मटियामेट हो गयी है। बहुत से

ग ऐसे भी कवि आपको मिलेंगे जो स्वयं अपनी रचना का अर्थ बताने में असमर्थ हैं। परन्तु वर्मा जी में यह बात नहीं है। उनकी भाषा संस्कृत की कोमल कान्त पदावली से संयुक्त होती हुई भी दुरूह नहीं है। उसमें प्रसाद और माधुर्य है। इसका कारण यह कि वर्मा जी की अनुभूति सच्ची है और भावनाएँ स्थिर। इसलिये इन भावनाओं का बाह्याच्छादन भी स्थिर और व्यवस्थित है। उनकी भाषा भावों को व्यक्त करने के लिये है न कि भाव भाषा पर निर्भर हैं। आपकी शैली गीतात्मक है। गीतों में अधिकतर आपने अपने कवि हृदय को व्यक्त किया है। वर्मा जी की भाषा का नमूना नीचे दिया जाता है:—

मेरा जीवन भरा हुआ है विहगों के मृदु रागों में।
हृदय गूँजता है झींगुर के अविदित घेघे विहागों में॥

वर्मा जी की भाषा मधुर, शब्दावली मृदुल और वाक्य-विन्यास व्यवस्थित है। इसमें प्रसाद गुण का आधिक्य है। कहीं-कहीं वर्णनात्मक प्रसंगों में आपकी भावानुरूपिणी भाषा में वही मृदुल गुंजार है जो कि भावों में है। 'निर्झर' शीर्षक कविता में वर्मा जी की इस प्रकार की भाषा का सुन्दर रूप देखिए:—

अविचल चल, जल का छल-छल, गिरि पर गिर-गिरकर कल-कल स्वर।
पल-पल में प्रेमी के मन में, गूंजे ए कातर निर्झर!

विविध:—

अभी तक कुमार जी की काव्य-कला का सम्यक् रूप से प्रस्फुटन नहीं हो पाया है। आपकी आज तक की रचनाओं में हमें काव्य-सम्बन्धी किसी स्वतंत्र मनोवृत्ति का आभास नहीं मिलता। आपकी कृतियों में एक ओर तो कबीर की रहस्यात्मक प्रवृत्ति की झांकी मिलती है जिसमें कवि ने :—

"यह जीवन तो छाया है, केवल सुख-दुख की छाया,
मुझको निर्मित कर तुमने, आँसू का रूप बनाया।

कहकर कबीर के 'सपने मे साईं मिले, सोवत लिया जगाय' की रहस्यात्मक भावनाओं को व्यक्त किया है, तो दूसरी ओर—

मै आज तुम्हारे मन्दिर में पूजा का कुछ सामान लिए—
आया हूँ एक वीतरागी सा, केवल अपने प्राण लिए॥

कहकर अपने प्रियतम के प्रति अपने हृदय की असीम भावुकता का परिचय दिया है। आपका क्षेत्र व्यापक और कल्पनाएँ मधुर है। प्रकृति के भावुक तथा सुन्दर वर्णनों को अपने मानस की सच्ची अनुभूतियो के समन्वय से अधिकाधिक रमणीय बनानेवाले आप प्रथम छायावादी कवि है। एक उदाहरण देखिये:—

निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।
चल अविचल जल कल-कल पर
गुञ्जित कर गति की लघु लहरी॥
निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।
साँसो के दो पतवार चपल,
सम्मुख लाते है नव नव पल,
अविदित्त भविष्य की आशङ्का की
छाया है कितनी गहरी!

अनुक्रमणिका